पुस्तक-वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित १५वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५ पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

सुभाग

लेखक

श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर।

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर सीरीजका ५४ वाँ ग्रन्थ।

समाज।

डॉ. रवीन्द्रनाथ ठाकुरके

सामाजिक निबन्धोंका अनुवाद।

अनुवादकर्त्ता—

बदरीनाथ वर्मा, एम. ए., काव्यतीर्थ

प्रकाशक—

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।

...० सं० १९८०

...य ॥।=)
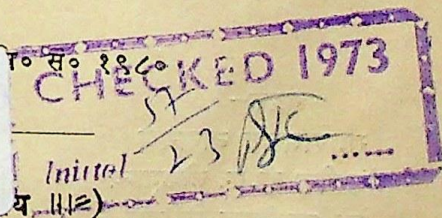
सजिल्दका १।=)

प्रकाशक,
नाथूराम प्रेमी
हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय
हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई।

मुद्रक–
रा. रामचंद्र नारायण
मंडलीक बी. ए. लोकमान्य
प्रेस, रास्तीबाई बिल्डिंग,
गिरगाँव, बम्बई।

सूचीपत्र.
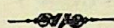
भाषान्तरकारका

वक्तव्य।

(प्रथमावृत्तिसे।)

सामाजिक विषय कैसे कठिन होते हैं, यह सभी शिक्षित लोगोंपर विदित है। इसीसे इनपर आलोचना-पूर्ण निबन्ध लिखना सबके लिए सम्भव नहीं है। इसके लिए बड़ी विद्वत्ता, बड़ी चिन्ताशीलता, बड़ी गवेषणाकी आवश्यकता होती है। साथ ही यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि, लेखक समाजकी भूत और वर्त्तमान दशाओंसे भली भाँति परिचित हो। इसी कारण, सामाजिक विषयोंपर आलोचना-पूर्ण ग्रन्थ बहुत कम ही लिखे जाते हैं। बंगला, मराठी और गुजराती भाषाओंमें तो इस विषयकी कुछ पुस्तकें हैं भी, पर हिन्दीमें अबतक ऐसे ग्रन्थोंका प्रायः अभाव ही है। यहाँ यह खयाल रखना ज़रूरी है कि, जबतक हिन्दीमें ऐसी पुस्तकें प्रचुरतासे न मिलने लगें तबतक हिन्दी-साहित्यको अनुन्नत ही समझना चाहिए। और और विषयोंके ग्रन्थ चाहे हिन्दीमें जितने ही क्यों न हों पर जबतक इस अत्यन्त आवश्यकीय अंगकी पूर्त्ति नहीं होगी तबतक हमारा साहित्य अधूरा ही रह जायगा।

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है वह मनमानी बात नहीं है। ऐसा कहनेका एक प्रधान कारण है। जिन लोगोंने इतिहास पढ़ा है, विशेष-कर जिन लोगोंने राजनीतिक इतिहासोंके साथ साहित्यिक इतिहासोंका भी अनुशीलन किया है वे इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि, सामाजिक विषयके लेख संसारमें कितने ही परिवर्तनोंके कारण हुए हैं और साहित्य और राष्ट्रीयत्व एक दूसरेकी उन्नतिके प्रधान साधक हैं। फिर, राष्ट्रीयताकी उन्नति या अवनति समाजकी उन्नति या अवनतिपर सम्पूर्णरूपसे निर्भर है। अतएव समाज-संस्कार साहित्यकि उन्नतिके लिए भी अत्यन्त प्रयोजनीय है और सामाजिक संस्कार-

का पथ सामाजिक विषयोंके लेखोंद्वारा बहुत कुछ प्रशस्त होता है। अस्तु।

हिन्दीमें सामाजिक विषयोंके ग्रन्थोंका होना आवश्यक जानकर ही मूल बंगला पुस्तकका उल्थाकर यह ग्रन्थ लिखा गया है। खास इस पुस्तकके चुननेमें मण्डलीके शायद दो अभिप्राय रहे होंगे। पहला तो यह कि, मूल पुस्तकके लेखक श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुरका आसन आधुनिक साहित्य–संसारमें बहुत ही ऊँचा है। इनकी विद्वत्ता, चिन्ताशीलता और गवेषणाशक्ति केवल भारतवर्षकी ही नहीं प्रत्युत सारे संसारकी शिक्षितमण्डलीसे छिपी नहीं है। साथ ही आप समाज–सुधारक भी हैं। आप स्वर्गीय राजा राममोहनरायद्वारा स्थापित ब्रम्हसमाजके एक प्रधान स्तम्भ हैं। ऐसे योग्य पुरुषके लेखोंसे अधिक लाभकी सम्भावना है। मण्डलीका दूसरा अभिप्राय शायद यह रहा होगा कि, इस पुस्तकमें भारतीय समाजकी आधुनिक दशा और उसकी सारी उपस्थित समस्याओंपर आलोचनाकी गई है। सभी विषयोंका एकत्र समावेश शायद अन्यत्र नहीं मिलता। इससे इसी पुस्तकका चुनना उचित समझा गया।

पुस्तकके विषयके सम्बन्धमें कुछ कहना उचित नहीं है। विज्ञ पाठक उसे स्वयं ही हृदयङ्गम कर लेगें। पर एक बात पहलेसे कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। हिन्दू–समाजकी आलोचना करते हुए मूल लेखकने बहुतसे ऐसे मत प्रकाशित किये हैं, जिनके सम्बन्धमें मतानैक्य हो सकता है। पर उसके लिए पाठकोंको अप्रसन्न न होना चाहिए। भाषान्तरकार स्वयं बहुतसे विषयोंपर सहमत नहीं है। पर इस कारण, इस पुस्तकके पाठसे लोगोंको विरक्त नहीं होना चाहिए।

वेदा विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्नाः,
नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।

अतएव ऐसी दशामें अधिक उदारतासे काम लेना उचित है। भाषान्तरकारका विचार है कि, इस पुस्तकमें बहुतसी ऐसी बातें कही गई हैं, जिनपर मनन करना प्रत्येक भारतवासीके लिए उचित ही नहीं, प्रत्युत अत्यन्त आवश्यक है। आज कल बहुतेरे लोग अपनी बुद्धिसे काम नहीं लेते अथवा लेनेकी इच्छा नहीं रखते हैं। इससे कितनी ही बुराइयाँ

समाजकी नींव ढीली कर रही हैं। समाजकी भलाईके लिए, मनुष्यमात्रकी सच्ची उन्नतिके लिए, स्वाधीन चिन्ता नितान्त आवश्यक है। भारतवर्षकी वर्त्तमान अवस्थामें इस आवश्यकताकी मात्रा कितनी अधिक है, यह पाठकोंपर अविदित नहीं है। अनुवादकका पूर्ण विश्वास है कि, इस पुस्तकके पाठसे स्वाधीन विचारकी ओर लोगोंका ध्यान आकर्षित होगा और इससे इसके विकाशमें सहायता पहुँचेगी। इस ग्रन्थमें और एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। लेखकने पुरानी चीज़ोंपर अन्धविश्वास रखनेवाले और नयी युरोपीय सभ्यताकी अंधाधुंध नकल करनेवाले--इन दोनों दलोंके लोगोंकी खूब ही समालोचना की है। दोनोंका अवलम्बित मार्ग प्रकृत उन्नतिके पथसे कोसों दूर है, यह उन्होंने सुस्पष्ट रूपसे दिखला दिया है। समाज-सुधारकोंको इस बातपर पूर्ण ध्यान रखना चाहिए।

पुस्तककी भाषाके सम्बन्धमें केवल यही कहना है कि, मूलग्रन्थकी भाषा बड़ी ही टेढ़ी मेढ़ी और बिल्कुल ही अंगरेज़ी ढंगकी है। उसका अँगरेज़ीम अनुवाद करना, भारतीय भाषाओंमें अनुवाद करनेकी अपेक्षा अधिक सुगम है। इस कारण यदि अनुवादकी भाषामें कुछ त्रुटियाँ रह गई हों तो इसके लिए पाठक मुझे क्षमा करेंगे।

भाषान्तरकार।

द्वितियावृत्तिके लिए।

ईश्वरकी कृपा और पंडित नाथूरामजीके आग्रहसे इस पुस्तकको द्वितिय बार मुद्रित होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। पुस्तकका उल्था स्वर्गीय बाबू माणिकचंदजी जैनीके अनुरोधसे किया गया था और खंडवेकी हिन्दी-ग्रंथ-प्रसारक मंडलीकी ओरसे यह प्रकाशित हुई थी। बड़े ही शोकका विषय है कि बाबू माणिकचंदका अकाल परलोकवास हो गया, और उनके साथ ही साथ हिन्दी-प्रसारक मंडली—जिसकी उन्नतिके लिए उन्होंने अपना निजका बहुतसा धन लगाया था और बड़ा घाटा उठाया था—बंद हो गई। इस कारण अब यह पुस्तक उक्त मंडलीकी ओरसे प्रकाशित न होकर हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालयकी ओरसे प्रकाशित होती है। इस ग्रंथके निकलने निकालनेका सारा श्रेय पंडित नाथूरामजीको है और इसके लिए मैं उनका बड़ा आभारी हूँ।

यह आवृत्ति पहले संस्करणकी पुनरावृत्ति मात्र है। यत्रतत्र शाब्दिक परिवर्तनके अतिरिक्त अधिक कुछ नहीं किया गया है। हाँ, मूल लेखक डॉक्टर रवीन्द्रनाथकी संक्षिप्तजीवनी—जो पहले संस्करणमें लगा दी गई थी—इसमें निकाल दी गई है। अब रवीन्द्रनाथजी इतने प्रसिद्ध हो गये हैं कि, उनका परिचय करानेका प्रयास उपहासास्पद नहीं तो अनावश्यक अवश्य है। आशा है कि, हिन्दी प्रेमी पहली आवृत्तिकी तरह इस संस्करणको भी अपनानेकी असीम उदारता दिखलावेंगे। इतिशम्।

श्रावण पूर्णिमा
सं० १९८०

बदरीनाथ वर्मा।

ॐ

समाज ।

आचारका अत्याचार ।

" अँगरेजीमें पाउण्ड, शिलिङ्ग, पेनी और फार्दिङ्ग हैं; हमारे यहाँ रुपया, आना, पैसा, छदाम और कौड़ी हैं ।

अँगरेज़ और अन्यान्य जातियाँ छोटे छोटे अंशोंको नहीं जोड़ती हैं, छोड़ देती हैं; हम छोटे छोटे अंशोंको भी नहीं छोड़ते हैं, पकड़े ही रहते हैं ।

हिन्दू कहते हैं कि धर्मके हिसाबमें भी कौड़ी छदाम छूटता नहीं है; स्वयं भगवान्ने कौड़ी छदाम तक नहीं छोड़ा है । शायद इसीसे हिन्दुओंने सामाजिक कामोंमें भी कौड़ी छदाम नहीं छोड़ा है । उस पर वे विचार भी कर गये हैं और उसकी व्यवस्था भी दे गये हैं ।

—साहित्य; तृतीय भाग, सप्तम संख्या"।

सब ओर एकसा बनाये रखना मनुष्यके लिए दुःसाध्य है । इस लिए किसी न किसी विषयको छोड़ कर ही चलना पड़ता है ।

यदि केवल 'थिओरी' (सिद्धान्त) से काम लेना हो तो तुम कौड़ी छदाम आदि छोटे अंशोंको ले, घर में बैठ, पाटीगणितकी पेचीली समस्याओंकी पूर्ति कर सकते हो; किन्तु, काम करनेके समय, छोटे छोटे अंशोंको छोड़ कर ही चलना पड़ेगा, नहीं तो हिसाब मिलाते मिलाते काम करनेको समय ही नहीं मिलेगा ।

कहीं एक जगह पर सीमा निर्दिष्ट करनी ही पड़ेगी। तुम बड़े हिसाबी हो, कौड़ी कौड़ी तक हिसाब जोड़ना चाहते हो। पर तुमसे भी बड़े हिसाबी कह सकते हैं कि हम कौड़ी ही पर क्यों ठहर जायँ। जब विधाताकी सृष्टि अनन्त सूक्ष्म है तब हमें अपने जीवनके हिसाब-को भी अनन्त सूक्ष्मकी ओर लेजाना पड़ेगा; नहीं तो, उन्हें पूरा सन्तोष नहीं होगा और वे हमें क्षमा नहीं करेंगे।

विशुद्ध तर्कके विचारसे किसीको इसके विरुद्ध एक भी बात कह-नेका अधिकार नहीं है। किन्तु, जब काम करनेकी दृष्टिसे देखते हैं, तब हाथ जोड़कर विनीतभावसे कहना पड़ता है—"प्रभो! तुम जानते हो कि हममें अनन्त क्षमता नहीं है। हमें काम भी करना पड़ता है और तुम्हारे निकट हिसाब भी देना होता है। हमारे जीवन-का समय भी कम है और संसारका रास्ता भी कठिन है। तुमने हमें देह दी है, मन दिया है और आत्मा दी है; भूख दी है, बुद्धि दी है और प्रेम दिया है और इतना बोझ देकर हमें हजारों लाखों आदमी-के भँवर-जालमें फेंक दिया है। इसपर भी पण्डितलोग यह भय दिखाते हैं कि तुम, हिन्दुओंके देवता, बड़े कड़े हो। तुम कौड़ी कौड़ी तकका भी हिसाब नहीं छोड़ते हो। यदि ऐसा ही है, तब तो हे परमात्मन्! हिन्दुओंको संसारके किसी बड़े कार्यमें और मनुष्योंके किसी महत् अनुष्ठानमें योग देनेका अवसर नहीं है; तब तो तुम्हारे बड़े कामोंमें छलकरके केवल तुम्हारा क्षुद्र और सूक्ष्म हिसाब ही बनाना पड़ेगा; तुमने जिस समुद्रमेखला विचित्रशोभना पृथिवी पर हमें भेजा है, हम घूम फिर कर उसको देख नहीं सकते हैं; तुमने हमें जिस ऊँचे मनुष्यवंशमें जन्म दिया है, उन मनुष्योंके साथ परिचय होना कठिन है, उनके दुःखमोचन और उन्नतिके लिए कार्य करना

दुःसाध्य है । केवल छोटे गाँवमें बन्द रहकर, घरके कोनेमें बैठ, गतिशील विपुल मानवप्रवाह और जगत् संसारकी ओर दृष्टि न देकर, अपने छोटे परिवारमें, क्षुद्र दैनिक जीवनके कौड़ी छदामका ही हिसाब करना पड़ता है । इसे नहीं छुएँगे, उसकी छाया न पड़ने देंगे, अमुकका छुआ अन्न नहीं खायँगे, अमुककी लड़कीसे विवाह न करेंगे, ऐसे उठेंगे, वैसे बैठेंगे, यों चलेंगे, यों सोवेंगे, तिथि, नक्षत्र, दिन, क्षण, लग्न विचार कर हाथ पाँव हिलावेंगे,—इसीप्रकार कर्महीन छोटे जीवनको टुकड़े टुकड़े कर मोहर भुनाकर कौड़ियोंका ढेर लगा देंगे—क्या यही हमारे जीवनका उद्देश्य है ? हिन्दुओंके देवताओ ! क्या यही तुम्हारा विधान है कि हम केवल 'हिन्दू' रहेंगे, मनुष्य नहीं होंगे ?

अँगरेजीमें एक कहावत है—"पेनी वाइज़, पाउण्ड फूलिश" (penny wise, pound foolish)—अर्थात् "मोहरें लुटें और कोयलों पर छाप"। कौड़ी पर विशेष ध्यान देने से मोहर पर दृष्टि शिथिल हो जाती है। उसका फल यह होता है कि जितनी कड़ी ऐंठन पड़ती जाती है गिरह उतनी ही ढीली होती जाती है।

हमारे देशमें भी वही हुआ है । विधिव्यवस्था, आचारव्यवहारपर अत्यधिक ध्यान देनेके कारण मनुष्यत्वके स्वाधीन ऊँचे अंगोंकी अवहेलना हुई है ।

सामाजिक आचारसे लेकर धर्मनीतिके ध्रुव अनुशासन तक सभी पर एकसी कड़ाई करनेसे फल यह हुआ है कि समाजनीति क्रमशः खूब कड़ी होगई है, पर धर्मनीति शिथिल होगई है। यदि कोई आदमी गौ मारे, तो उसे सामाजिक दण्ड सहना पड़ेगा और प्रायश्चित्त करना होगा । किन्तु मनुष्यको मार कर बिना प्रायश्चित्त

ही समाजमें स्थान पानेवालोंकी कमी नहीं है । ब्रह्माके हिसाबमें कहीं कौड़ी छदामका फरक न पड़ जाय, इस खयालसे पिता अपनी लड़कियोंको आठवें वर्षमें व्याह देते हैं; वयस अधिक होने-पर व्याह करनेसे वे जातिच्युत होते हैं । यदि ब्रह्माका हिसाब मिलानेके लिए समाजकी ऐसी ही सूक्ष्म दृष्टि है तो उक्त पिता अपने उच्छृङ्खल और निन्द्य चरित्रके सैकड़ों प्रमाण देनेपर भी समाजमें अपने सम्मानकी रक्षा क्यों करने पाते हैं? यदि हम अस्पृश्य नीच जातिके एक व्यक्तिको छुएँ तो समाज हमें तुरत कौड़ीके हिसाबकी चेत करा देती है । पर, यदि हम उसी व्यक्ति पर अत्याचार करें, उसका घर दाह दें, क्या तब समाज हमारे निकट मोहरका हिसाब लेती है? प्रतिदिन राग, द्वेष, लोभ, मोह, मिथ्या-चरण आदि धर्मनीतिकी जड़को जीर्ण कर रहे हैं, परन्तु स्नान, ध्यान, विधिव्यवस्थामें तिल भर भी त्रुटि नहीं हो रही है—क्या हम प्रत्यक्ष ऐसा नहीं देखते हैं?

मैं यह नहीं कहता हूँ कि हिन्दूशास्त्र धर्मनीतिमूलक पापको पाप नहीं कहते हैं; किन्तु, मनुष्यके किये हुए सामान्य सामाजिक निषेधों-को भी उसके साथ एक श्रेणीमें रख देनेसे, यथार्थ पापकी घृण्यता क्रमशः घटी जारही है । बहुत बड़ी भीड़में श्रेणीका विचार करना कठिन हो जाता है । अस्पृश्यको छूने और समुद्र-यात्रासे लेकर नरहत्या तक सब अपराध हमारे यहाँ एक ही भीड़में मिल जाते हैं ।

उसी प्रकार पापमोचनके भी सैकड़ों सुगम रास्ते हैं । हमारे पाप-का बोझ जिस प्रकार देखते देखते बढ़ जाता है, उसी प्रकार उसे जहाँ तहाँ फेंक देनेकी जगह भी है । गङ्गाजीमें स्नान किया नहीं कि

देह पर की धूलके साथ ही छोटे बड़े सब पाप भी धुल गये। जिस प्रकार किसी राज्यमें महामारी होनेसे, प्रत्येक व्यक्तिके लिए अलग अलग कब्र तैयार करना असाध्य होजाता है और अमीर गरीब सभीकी लाशोंका ढेर करके एक गड्ढेमें डालकर संक्षेपतः अन्त्येष्टि कर दी जाती है; उसी प्रकार, हमारे देशमें खाते पीते, उठते बैठते इतना पाप होता है कि प्रत्येक पापका पृथक् पृथक् प्रायश्चित्त करना असम्भव है—इसी हेतु कभी कभी छोटे बड़े सब पापोंको जमा करके उनको एक ही साथ समाधि दे देनी पड़ती है। जितनी कड़ी ऐंठन, उतनी ही ढीली गिरह।

इस प्रकार मनुष्य क्रमशः भूल जाता है कि पाप पुण्य मानवके मनकी प्रवृत्ति है। मनमें यही विश्वास जम जाता है कि मन्त्र पढ़नेसे, डुबकी लगानेसे, गोबर खानेसे पाप नष्ट हो सकता है। मनुष्यको मनुष्य जैसा न देखकर यदि उसे एक 'मेशीन' की तरह समझ लो तो उसके मनमें यही भ्रान्त धारणा हो जायगी कि "मैं मेशीन ही हूँ।" यदि सामान्य हानिलाभ, वाणिज्यव्यवसायको छोड़कर और किसी विषयमें उसे स्वतन्त्र बुद्धि लगानेका अवसर न दिया जाय—यदि सोना बैठना, खाना पीना, मिलना जुलना,—सभी उसके लिए निर्दिष्ट और ध्रुव रहें तो उसे क्रमशः यह भूल जाना पड़ेगा कि मनुष्यमें एक स्वाधीन मानसिक धर्म भी है। पाप पुण्य सभीको यन्त्रका धर्म समझना सम्भव हो जाता है और उनका प्रायश्चित्त भी यन्त्रसिद्ध सा मालूम होने लगता है।

किन्तु अति सूक्ष्म युक्ति कहती है कि यदि मनुष्यकी स्वतंत्र बुद्धि पर थोड़ा भी निर्भर किया जाय तो शायद कौड़ी छदामका हिसाब नहीं मिल सकेगा, क्योंकि मनुष्य ठोकर खाकर सीखता है;

किन्तु, जब तिल भर भी ठोकर खानेसे पाप होता है, तब तो उसे सीखनेका अवसर न देकर, उसकी नाकमें नकेल देकर चलाना ही युक्तिसङ्गत है । छोटे बच्चेको चलना सिखानेमें उसे गिरने भी देना पड़ेगा । उसकी अपेक्षा आजीवन उसे गोदमें लिये फिरना ही अच्छा है, क्योंकि, इससे न उसे गिरना ही पड़ेगा और न उसके चलनेका काम ही बन्द रहेगा । लेशमात्र भी यदि धूल लग जाय तो हिन्दूको देवताके निकट हिसाब देना पड़ता है । अतएव नीति-म्यूजि-यमके[1] प्रदर्शिनी-द्रव्यकी तरह मनुष्यजीवनको तेलमें डाल रखना ही सुपरामर्श है ।

इसीको कहते हैं 'हाथी बेचकर अंकुशका झगड़ा ।' कोई यह नहीं देखता है कि क्या भूल गया है और क्या रखा है । कवि-कङ्कणके[2] वाणिज्य—विनिमयमें लिखा है:—

'सीप बदल कर मोती देना, घोड़ा देकर भेड़ा लेना ।'

हम पण्डितगण एक साथ मिल, अनेक युक्ति कर, सीपके बदले मोती देनेको प्रस्तुत हुए हैं; जिस मानसिक स्वाधीनताके न रहनेसे पाप पुण्यका कोई अर्थ ही नहीं होता है, उसी स्वाधीनताको बलि देकर खजानेमें नाममात्रके पुण्य जमा किये जाते हैं ।

पाप पुण्य और उत्थान पतनमें हमारा मनुष्यत्व क्रमशः परिस्फुरित हो उगता रहता है । स्वाधीनरूपसे हम जो लाभ करते हैं वही हमारा यथार्थ लाभ है । बिना विचारे, दूसरेके निकटसे, जो हम ग्रहण करते हैं वह वास्तवमें हमारा नहीं है । धूल और कादोंमें, आघात और संघातके बीच, पतन और पराभवको अतिक्रमण कर अग्रसर होते हुए हम जो बल संचय करते हैं वही हमारा चिरजीवनका संगी है ।

---

१ अजायबघर । २ एक बंगाली कवि ।

धरती पर बिना पैर रक्खे ही, दूधके फेन जैसे स्वच्छ पुण्यके पलंग पर पड़े हुए, हिन्दू देवताओंके निकट जीवनका एक अत्यन्त निष्कलङ्क हिसाब तैयार किया जासकता है। किन्तु वह हिसाब क्या है? बस एक कोरी बही है; उसमें कलङ्क तो नहीं है, पर, कोई अङ्क भी नहीं लिखा गया है; पीछे कौड़ी छदामके विषयमें गोलमाल होगा इस डरसे उसमें आय व्ययको स्थान ही नहीं मिला है।

निर्दोष सम्पूर्णता मनुष्योंके भाग्यमें नहीं है। क्योंकि सम्पूर्णता-में समाप्ति है और मनुष्य इसी जीवनमें समाप्त नहीं होता है। जो परलोक नहीं मानते हैं, वे भी यह मानेंगे कि मनुष्यकी उन्नतिकी सम्भावना एक ही जीवनमें समाप्त नहीं होती है।

जन्म लेनेके समयसे ही नीची श्रेणीके जन्तुओंके बच्चे मनुष्यके बच्चोंसे अधिक परिणत (कार्यक्षम और सबल) होते हैं। मनुष्यके बच्चे बिल्कुल लाचार होते हैं। बकरीके बच्चोंको चल फिर सकनेके पहले गिरना नहीं पड़ता है। यदि ब्रह्माके निकट चलनेका हिसाब देना हो तो बकरीका बच्चा कौड़ी छदाम तकका हिसाब दे सकता है। किन्तु, मनुष्यके गिरनेकी गणना कौन कर सकता है?

अन्य जन्तुओंके जीवनका परिसर संकीर्ण है। वे थोड़ी दूर जाकर अपनी उन्नति समाप्त कर देते हैं। इसी कारण, वे जन्मसे ही समर्थ और बलिष्ठ होते हैं। मनुष्य-जीवनकी परिधि बहुत विस्तीर्ण है। इसी कारण, वे बहुत दिनोंतक अपरिणत और दुर्बल रहते हैं।

अन्य जन्तुओंमें जो स्वाभाविक निपुणता जन्मके साथ साथ उत्पन्न होती है, उसे अँगरेजीमें इन्सटिंक्ट (Instinct) कहते हैं। हम उसे सहज संस्कार कह सकते हैं। सहज संस्कार या शिक्षानपेक्षित

पटुत्व प्रारम्भसे ही सीधे रास्तेमें चल सकता है; पर बुद्धि, इधर उधर घूमते घामते, भ्रमके बीचसे, अपनी राह खोज निकालती है। पशुओंको सहज संस्कार होता है और मनुष्योंको बुद्धि होती है। सहजसंस्कारकी दौड़ निर्दिष्ट सीमाके भीतर ही है, पर, बुद्धिके अन्तिम लक्ष्यका अब तक पता ही नहीं लगा है।

मनुष्य-सन्तान होनेहीके कारण, बहुत दिनोंतक, हमारी मानसिक और शारीरिक दुर्बलता रहती है; बहुत दिनोंतक हम गिरते हैं, बहुत दिनोंतक भूल करते हैं, बहुत सा समय अपनी शिक्षामें बिताते हैं;—अनन्तकी सन्तान होनेके कारण, बहुत दिनों तक, हमारी आध्यात्मिक दुर्बलता रहती है और पद पद पर हमें दुःख, कष्ट और पतन सहना पड़ता है। किन्तु यह हमारा सौभाग्य है, यही हमारे चिरस्थायी जीवनका लक्षण है, इसीसे यह जाना जाता है कि अभी हमारी बुद्धि और विकाशका अन्त नहीं हुआ है।

यदि बालकपनमें ही मनुष्यकी सम्पूर्णता होजाती तो मनुष्यकी जैसी अपरिस्फुटता सारे प्राणिसंसारमें कहीं भी नहीं मिलती। इस अपरिणत और पदस्खलित जीवनमें ही यदि हमारी समाप्ति हो जाय तो हम नितान्त दुर्बल और हीन रहेंगे—इस विषयमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। किन्तु हमारा विलम्बसे होनेवाला विकाश, हमारी त्रुटियाँ और हमारे पाप हमारे सुदूरवर्ती भविष्यत्की सूचना दे रहे हैं; कह रहे हैं कि कौड़ी छदाम आँखमें पट्टी बँधे कोल्हूके बैलोंके लिए है। वे, अपने पूर्वजोंके पदचिह्नित वृत्ताकार छोटे रास्तेमें घूमते हुए, सरसोंसे तेल निकालने जैसा, कोई कार्य-विशेष कर जीवन निर्वाह करते हैं। उनके प्रत्येक मुहूर्त्त और प्रत्येक तैलबिन्दुका हिसाब

किया जा सकता है। पर जिन्हें अपने समस्त मनुष्यत्वको अपरिमेय विकाशकी ओर ले जाना पड़ेगा, उन्हें बहुतसे छोटे छोटे हिसाबों-को छोड़ देना ही पड़ेगा।

उपसंहारमें एक बात कहे देते हैं कि 'ऐकिलिस कछुआ' न्याय[1] कुतर्क मात्र है। उससे यह प्रमाणित किया जाता है कि ऐकिलिस चाहे जितना ही द्रुतगामी क्यों न हो, पर यदि मन्दगति कछुआ यात्रा-के आरम्भके समय थोड़ा भी आगे रहे, तो ऐकिलिस उसे पकड़ नहीं सकता है। इस कुतर्कके कर्त्ताने असीम भग्नांशोंका हिसाब किया है—कौड़ी छदामवाले हिसाबसे उसने, अपने घर बैठ, यह सिद्ध कर दिया है कि कछुआ बराबर ही आगे रहेगा। परन्तु, इधर प्रकृत कर्म-क्षेत्रमें, ऐकिलिस एक डगमें कौड़ी छदामको फाँद कर, कछुएसे आगे निकल जाता है।

---

१ यह अँगरेज़ी न्यायशास्त्र (Logic) में हेत्वाभास (Fallacy) का एक उदाहरण है। यह इस प्रकार है:—ऐकिलिस घण्टेमें १०० गज चलता है और कछुआ घण्टेमें १० गज। यात्रारम्भके समय कछुआ ऐकिलिससे १०० गज आगे है। ऐकिलिस जितने समयमें १०० गज चलेगा उतने समयमें कछुआ १० गज आगे बढ़ेगा। इस कारण एक घण्टेके बाद कछुआ ऐकिलिससे १० गज आगे ही रहेगा। फिर, जितनी देरमें ऐकिलिस १० गज जायगा उतनी देरमें कछुआ १ गज आगे बढ़ेगा। इससे उतनी देरके बाद कछुआ ऐकिलिससे १ गज आगे रहेगा। फिर जितनी देरमें ऐकिलिस १ गज चलेगा उतनी ही देरमें कछुआ $\frac{1}{10}$ गज आगे बढ़ेगा। इसी प्रकार जितनी देरमें ऐकि-लिस $\frac{1}{10}$ गज जायगा कछुआ उतनी देरमें $\frac{1}{100}$ गज आगे रहेगा इस तरह यह सिद्ध होता है कि कछुआ ऐकिलिससे बराबर ही आगे रहेगा। —(भाषान्तरकार)

समुद्र-यात्रा ।

बङ्गदेशमें समुद्रयात्राका आन्दोलन प्रायः समुद्रके आन्दोलन जैसा हो उठा है । समाचारपत्रों, पैम्फलेटों और व्याख्यानोंकी चपेटोंसे तरंगें उठ उठ कर लड़ रही हैं और जिधर देखो फेन ही फेन देख पड़ता है—सङ्घर्षने भयानक रूप धारण किया है ।

झगड़ा इसी बातका है कि समुद्रयात्रा शास्त्रसिद्ध है या शास्त्रविरुद्ध । समुद्रयात्रा अच्छी है या बुरी इसकी कुछ चर्चा नहीं है, कारण, यह कहनेमें हमें कोई लज्जा ही नहीं आती कि जो वस्तु और सब तरहसे अच्छी है अथवा जिसमें किसी प्रकारकी बुराई नहीं है वह शास्त्रानुसार अच्छी नहीं भी हो सकती है ।

हम यह बलपूर्वक नहीं कह सकते हैं कि जिन बातोंसे हमारा मङ्गल होगा उन सबका, हमारे शास्त्रोंमें, विधान अवश्य है । यदि हम ऐसा कर सकते तो उसी मङ्गलसे युक्तियाँ निकाल कर शास्त्रोंसे मिला देते । पहले यह दिखाते कि अमुक कार्यमें हमारा मङ्गल है और तब यह दिखा देते कि इस विषयमें हमारे शास्त्रोंकी भी सम्मति है ।

समुद्रयात्राके पक्षमें हजारों प्रमाण क्यों न रहें, पर यदि शास्त्रोंमें उसके विरुद्ध एक भी वचन मिल जाय, तो सब प्रमाण व्यर्थ हो जाते हैं । इसका अर्थ यही है कि हमारे लिए सत्यकी अपेक्षा वचन बड़ा है; मनुष्यके शास्त्रके सामने परमेश्वरका शास्त्र व्यर्थ है ।

शास्त्र ही सब समयमें बलवान् है, यह भी नहीं कहा जा सकता। लोग कहते हैं कि हमारे ऋषियोंकी ऐसी अलौकिक बुद्धि थी कि वे

हमारे लिए जो विधान कर गये हैं, उन्हें हम, समस्त प्रमाणोंको तुच्छ करके, अन्धविश्वासके साथ, निर्भय पालन कर सकते हैं। किन्तु समाजमें लोग बहुधा ऋषिवाक्य और शास्त्रविधिका उल्लङ्घन करते हैं और तब वे लोकाचार और देशाचारकी दुहाई देते हैं।

इससे यही सिद्ध होता है कि शास्त्रविधि और ऋषिवाक्य अभ्रान्त नहीं हैं। यदि ये अभ्रान्त होते तो जब कभी लोकाचार इनके विरुद्ध काम करता तो उसे दोषी ठहराना उचित था। सो जब लोकाचार और देशाचार पर शास्त्रविधिके संशोधनका भार दिया जाता है तब शास्त्रकी अमोघता बाकी नहीं रहती। अतः यह स्पष्ट मानना पड़ता है कि शास्त्रशासन, सब समयमें और सब स्थानमें, एकसा काम नहीं करता है। जिस विषयमें शास्त्रशासनसे काम नहीं चलता, उसमें हमारे कार्योंका नियामक कौन है? शुभबुद्धि भी नहीं और शास्त्रवाक्य भी नहीं, किन्तु लोकाचार। पर लोकाचारको राह दिखानेवाला कौन है? लोकाचार भ्रमशून्य नहीं होता है, इस बातके हजारों प्रमाण इतिहासमें मौजूद हैं। लोकाचार यदि अभ्रान्त होता तो संसारमें इतना विप्लव नहीं होता और इतने संस्कारकोंकी भी उत्पत्ति नहीं होती।

विशेषकर जिस लोकाचारमें जीवनप्रवाह नहीं है, वह जड़ लोकाचार आप ही अपनेको संशोधित नहीं कर सकता है। स्रोतका जल गतिके वेगसे सर्वदा अपने दूषित अंशोंको शुद्ध करता रहता है; किन्तु रुके हुए पानीमें जब मैला प्रवेश कर जाता है, तब उसका संशोधन दुःसाध्य होता है—उल्टे उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है।

समाज—

हमारी समाज बद्ध समाज है। एक तो भीतरी सहस्रों नियमों और विधानोंसे बँधी हुई है ही, दूसरे बाहर भी अँगरेजोंके आईन-से अनेक बन्धन बाँधे गये हैं। समाजसंशोधनमें स्वदेशीय राजाओंका अधिकार स्वाभाविक था और पुराने समयमें वे ही यह काम करते थे। किन्तु तदधिकारशून्य अँगरजोंने हमारी समाजको जिस अवस्था-में पाया उसे उसी अवस्थामें उन्होंने बाँध रखा है। वे न आप कोई नियम प्रचलित करनेका साहस करते हैं और न बाहरहीसे किसी नियमको प्रवेश करने देते हैं। कौन बैध है और कौन अबैध, इसका उन्होंने अन्ध-निर्णय कर दिया है। फलतः समाजकी कोई भी सचेतन स्वाभाविक शक्ति सुगमतासे किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं कर सकती है।

यदि ऐसी बँधी हुई समाजमें लोकाचार मानना पड़े तो यह एक मृत देवताकी पूजा करनी है। वह तो केवल गतिशक्ति और चेष्टास्फूर्त्तिसे रहित जड़ कङ्काल मात्र है। वह न सोचता है, न अनुभव करता है और न उचित समय पर परिवर्त्तन कर सकता है। उसे दाहिने बायें फिरने तककी शक्ति नहीं है। यदि सारी हतभाग्य जाति—उसके सारे भक्त उपासक, उसके सम्मुख प्रतिक्षण अपने मरण-व्रतका उद्यापन करें तथापि वह कल्याणकी राह नामको भी नहीं बता सकता है।

जो शास्त्रोंके वाक्य एकत्र कर लोकाचार पर वार करनेकी चेष्टा करते हैं, वे क्या करते हैं? वे मरेको मारना चाहते हैं, जिसे चोट न लगेगी उस पर हथियार चलाते हैं और जो अन्धा है उसको दीपक दिखाते हैं। इससे हथियार भोथला होता है और दीपक व्यर्थ जलता है।

उन्हें और एक बात जाननी उचित है। शास्त्र भी एक समय-का लोकाचार है। वे दूसरे समयके लोकाचारकी सहायता लेकर वर्त्तमान समयके लोकाचार पर आक्रमण करना चाहते हैं। वे यह कहना चाहते हैं कि बहुत पुराने समयमें समुद्रयात्रा निषिद्ध नहीं थी। आजकलका लोकाचार कहता है कि उस समय निषिद्ध नहीं थी, पर अब है। भला इसका क्या उत्तर है?

यह मानो एक शत्रुको भगानेके लिए दूसरेको बुलाना है। पठानके पंजेसे बचनेके लिए मोग़लके हाथोंमें अपनेको समर्पण करना है। जिसे कुछ भी निजकी शक्ति है वह इस तरहका विपद्-का खेल खेलना नहीं चाहता है। क्या हमें निजकी कुछ भी शक्ति नहीं है? हमारी समाजमें यदि किसी दोषका संचार हो, यदि उस-की कोई व्यवस्था हमारी सारी जातिका उन्नति-पथ रोकनेके लिए सिर उठाये रहे, तो उसे दूर करनेके लिए क्या हमें यह ढूँढ़ निकालना पड़ेगा कि बहुत ही पुराने समयमें उसके विरुद्ध कोई नियम था या नहीं? दैवात् यदि मिल भी जाय तो कुछ दिनों तक सारे देशके पण्डितों, शास्त्रज्ञोंमें लाठी चलेगी और दैवात् यदि शास्त्रका कोई अनु-स्वारविसर्गयुक्त वचन न मिला, तब तो हम बस ऐसे निरुपाय हैं कि समाजकी समस्त असम्पूर्णता और दोषोंको माथे चढ़ा लेंगे और उन्हें पवित्र समझकर उनकी पूजा किया करेंगे। पुराना होनेके कारण क्या दोष भी पूज्य हो जाता है? क्या हम कर्त्तव्यबुद्धिके बलसे सिर उठाकर यह नहीं कह सकते हैं कि पहले क्या था और अब क्या है, यह हम नहीं जानना चाहते,—समाजमें जितने दोष हैं उन्हें दूर करेंगे और मङ्गलको आह्वान कर बुला लावेंगे? हम अपने शुभाशु-भज्ञानके हाथ पैर तोड़कर उसे लूला लँगड़ा बना देते हैं और बड़ी

आवश्यकता होनेपर, देशके महत् अनिष्ट और वृद्ध अमङ्गल दूर करनेके समय समस्त पुराण, संहिता, वेद, वेदान्तादि ग्रन्थोंसे वचन-खण्ड ढूँढ़ निकालनेके लिए हैरान होते हैं—समाजके हिताहितके विषयमें ऐसा लड़क-खेल क्या और भी किसी देशके वयःप्राप्त लोगोंमें पाया जाता है ?

हमने अपनी धर्मबुद्धिको सिंहासनसे उतारकर उसके स्थानमें जिस लोकाचारका अभिषेक किया है वह इतना मूर्ख और अन्धा है कि वह अपने नियमोंकी भी सामञ्जस्य रक्षा करना नहीं जानता है। न जाने कितने हिन्दू मुसलमानोंके जहाजोंमें चढ़कर, उड़ीसा, मन्द्राज और सिंहल-की सैर कर आते हैं। उनकी जाति नष्ट हुई या नहीं, इस विषयमें लोकाचार एक शब्द तक मुँहसे नहीं निकालता; और इधर समुद्र-यात्राके शास्त्रसे अवैध होनेके विषयमें समाज विकट चीत्कार कर रही है। देशमें सैकड़ों आदमी लड़कपनसे अभक्ष्य खाकर बड़े हुए हैं, सबके जानते यवनोंका बनाया मद्य पीते हैं, किन्तु कोई भी उस ओर देखता तक नहीं है। परन्तु विलायत जानेपर कोई अनाचार हो जायगा, इसके लिए सब लोग बड़े शङ्कित हैं। इस विषयमें युक्ति निष्फल है। जिन्हें आँखें हैं उन्हें इन बातोंको उँगली उठाकर दिखलाना आवश्यक नहीं था। पर लोकाचार नामक बड़ी जड़ कठपुतलीके माथेमें तो गुद्दी नहीं है। कृषक लोग कव्वों-को डरानेके लिए खेतमें बाँस गाड़कर उसपर एक चीज पोतकर रख देते हैं। लोकाचार भी इसी प्रकारकी एक विभीषिका है। जो उसके जडत्वको जानता है, वह उससे घृणा करता है और जो उससे डरता है उसकी कर्तृव्यबुद्धि लुप्त हो जाती है।

आजकल बहुत सी पुस्तकोंमें और समाचारपत्रोंमें हमारे वर्त्तमान लोकाचारकी असङ्गतिका दोष दिखाया जाता है। कहा जाता है कि एक ओर तो हम लाचार होकर अथवा अन्धे होकर कितना अनाचार करते हैं और दूसरी ओर सामान्य आचार विचारके विषयमें कैसी अन्धाधुन्ध कड़ाई होती है। किन्तु जब यह सोचते हैं कि ये बातें किसी कही जा रही हैं, तब हँसी आती है। लड़के भी, अपनी पुतलीके साथ, इसी तरह बातें करते हैं। कौन कहता है कि लोकाचार युक्ति या शास्त्रके अनुसार चलता है? वह स्वयं भी तो इतना बड़ा अपराध स्वीकार नहीं करता है। तब उससे युक्तिकी बात क्यों चलाते हैं?

समाजमें जो कुछ परिवर्त्तन हुआ है, वह बिना युक्तिके ही हुआ है। गुरु गोविन्द और चैतन्यने, जिस समय इस जातिनिगड़-बद्ध देशमें, जातिभेदको कुछ शिथिल किया था, उस समय उन्होंने यह कार्य युक्तिबलसे नहीं किया था, पर अपने चरित्रबलसे।

यदि हमारा यह मत हो कि समुद्रयात्रा उपकारक है और मनुका जो निषेधवाक्य, बिना किसी कारणके, भारतवासियोंको सदाके लिए पृथिवीके एक ही कोनेमें बाँधकर रखना चाहता है, वह ठीक नहीं है, उनकी यह कारागारवासकी आज्ञा नितान्त अन्याय्य और अनिष्टजनक है तो हमें कोई भी विधि विदेश जाकर ज्ञानोपार्ज्जनको अपना उन्नतिसाधन बनानेसे वञ्चित नहीं कर सकती है। जिन्होंने हमें इस समुद्रपरिवेष्टित पृथिवीपर भेजा है उन्होंने ही हमें सारी पृथिवीपर घूमनेका अधिकार भी दिया है। तब हम और कुछ सुनना नहीं चाहते हैं, तब हमें कोई भी श्लोक-खंड भय नहीं दिखा सकता है, कोई भी निषेध नहीं कर सकता है।

बन्धन भी तो टूट गया है। अब शास्त्र और लोकाचारका मुँह निहारता कौन बैठा है? बंगालसे दलके दल लड़के समुद्र पार हो रहे हैं और निर्बल समाज उसका कोई भी प्रतिविधान करनेमें समर्थ नहीं है। जब समाजका प्रधान बल अर्थात् नीतिबल ही नहीं है तब उससे बहुत दिनों तक कौन डरेगा? जो समाज मिथ्या और कपटताकी मार्जना करती है, जो जान बूझकर अधाछिपे अनाचारों पर आँखें बन्द कर लेती है, जिसके नियममें न कोई नैतिक कारण है, न कोई यौक्तिक सङ्गति, उस समाजमें बल कहाँ? यदि समाज-का विश्वास दृढ होता और यदि उसी अखण्ड विश्वासके अनुसार वह अपना सारा काम चलाती, तो उसका उल्लंघन करना अवश्य बड़ा कठिन होता।

जो शुभबुद्धि पर निर्भर न रहकर, शास्त्रकी दुहाई देकर, समुद्र-यात्रा करना चाहते हैं, वे भी दुर्बल हैं, क्योंकि उनके लिए कोई युक्ति नहीं है। समाज शास्त्रानुसार नहीं चलती है।

दूसरी बात यह है कि लोकाचारका समुद्रयात्रा निषेध करनेमें एक अभिप्राय है। हिन्दू समाजके बहुतसे नियम एक दूसरेसे बँधे हुए हैं। एकके तोड़नेसे दूसरा भी टूट जाता है। नियमित प्रणालीके अनुसार स्त्रीशिक्षाका प्रचार करनेसे बाल्यविवाह भी उठा देना पड़ता है। बाल्यविवाहके उठ जानेसे क्रमशः स्वाधीन विवाहका प्रादुर्भाव होता है। स्वाधीन विवाह प्रचलित होनेसे समाजका एक बड़ा रूपान्तर अवश्यम्भावी होजाता है और धीरे धीरे जातिभेदकी जड़ कमजोर होजाती है। किन्तु इसी हेतु अब स्त्रीशिक्षाको कौन रोक सकता है?

समुद्र पार होकर विदेशयात्रा करना भी हमारी वर्त्तमान समाज-की रक्षाके पक्षमें सम्पूर्णतया अनुकूल नहीं है। हमारी समाजमें किसी प्रकारकी स्वाधीनताको कोई भी स्थान नहीं है। लोकाचार-का यही विधान है कि हम, निश्चेष्ट और निश्चल रूपसे, अन्धोंकी तरह, समाजके अन्धकूपमें एक ही दशामें पड़े रहें। मृत्यु जैसी शान्त अवस्था और कोई नहीं है। उसी अगाध शान्तिको प्राप्त करनेके लिए हमने, जहाँ तक हो सका है, अपनी जीवनीशक्तिका लोप किया है। एक बड़ी जातिको सम्पूर्णरूपसे निश्चेष्ट और निर्जीव करनेके लिए अल्प आयोजन करना नहीं पड़ा है; क्योंकि मनुष्यत्वमें अमरताका ऐसा बीज छिपा हुआ है जो, छोटेसे छेदसे भी स्वाधी-नतासूर्यका आलोक और वृष्टिका जल पाते ही; अङ्कुरित, पल्लवित और विकसित होनेकी चेष्टा करता है। इसी डरसे हमारी हिन्दू समाज कहीं भी कोई छेद रखना नहीं चाहती है।

समुद्र पार हो, नये देशमें जा, नई सभ्यताके आदर्शको पाकर हमारे मनमें जो चिन्ताके बन्धन हैं, वे खुल जायँगे—इसमें कोई सन्देह नहीं। जिन नियमोंको हम, बिना कोई सन्देह किये हुए; आजन्म पालन करते चले आते हैं, जिनके कारणके विषयमें कभी कोई भी प्रश्न मनमें नहीं उठा, उनके बारेमें तरह तरहकी युक्तियों और सन्देहोंका उदय होगा। यही मानसिक आन्दोलन, हिन्दू समाज-के लिए, सबसे बढ़कर भयका कारण है। बाहर म्लेच्छोंसे मिलना और समुद्र पार जाना यथार्थ लोकाचारके इतना विरुद्ध नहीं है, जितना भीतर स्वाधीन मनुष्यत्वका सञ्चार होना।

किन्तु हाय! हमें समुद्र पार न होने देकर भी मनु महाराजकी संहिता दूसरी जातियोंको समुद्र पार होकर आनेसे रोक नहीं

सकती है। नया ज्ञान, नया आदर्श, नये संदेह और नये विश्वास, जहाजोंमें लद लदकर, हमारे देशमें चले आरहे हैं। हमसे आरम्भमें ही भूल हुई है। यदि हमें समाजरक्षाके लिए इतना भय और इतनी चिन्ता है, तो हमें उचित था कि पहलेहीसे हम अपनेको अँगरेजी शिक्षासे बचाये रखते। पर्वतको मुहम्मदके निकट न जाने दोगे, पर, यदि मुहम्मद ही पर्वतके निकट चला आवे, तब क्या उपाय करोगे? मान लिया कि हम इँग्लैण्ड नहीं गये, पर अँगरेजी शिक्षा तो हमारे घरमें घुस रही है, उसने बाँध तो तोड़ दिया है। यदि जड़में आघात न लगता, तो आज जो इतनी वाक्चातुरी और शास्त्रसन्धानकी धूम मच गई है, उसकी कोई आवश्यकता नहीं होती।

किन्तु मूढ़ लोकाचार इतना अन्धा और कपटी है कि वह उस ओर देखता ही नहीं। बहुत पवित्र हिन्दू भी लड़कपनसे अपने लड़केको अँगरेज़ी पढ़ाता है, यहाँ तक कि मातृभाषा सिखाता ही नहीं। और शिक्षासमितिमें जब विश्वविद्यालयमें मातृभाषाकी शिक्षा देनेका प्रस्ताव उपस्थित किया जाता है, तब स्वदेशके लोग ही विशेष आपत्ति करते हैं।

किरानीगिरी (क्लर्की) न करनेसे पेट भरता नहीं। अतः परीक्षा पास करनी ही पड़ेगी। पास न करनेसे नौकरी मिलनी तो दूर, विवाह होना भी दुःसाध्य है। अँगरेजी शिक्षाकी मर्यादा, मूर्खसे मूर्ख जनतामें भी, इस प्रकार बद्धमूल हो गई है।

किन्तु क्या यह भ्रम या दुराशा है? क्या हम अँगरेज़ी शिक्षासे केवल उतना ही ग्रहण करेंगे, जितनेसे किरानीगिरीमें सहायता मिलेगी और बाकीको भीतर प्रवेश करने न देंगे? क्या यह कभी

सम्भव है? दीपशिखा केवल रोशनी ही नहीं देती है, पर वह बत्तीको भी जलाती है और तेलको भी समाप्त करती है। इसी तरह अँगरेज़ी शिक्षा केवल साधारण नौकरी ही देती है—यह बात नहीं है। वह प्रतिक्षण लोकाचारके उन सूत्रोंको भी जला रही है, जिससे उसके अङ्गप्रत्यङ्ग परस्पर विजड़ित हैं।

अभी जितने दिनों तक इस शिक्षाका प्रचार रहेगा और हमारा जीविका-निर्वाह इस पर प्रतिष्ठित रहेगा, तब तक, चाहे जो, जिस प्रकार तर्क क्यों न करें, शास्त्र अपनी मृतभाषामें चाहें जितना निषेध और भयका प्रचार क्यों न करे, बंगाली समुद्रयात्रा अवश्य करेंगे और पृथिवीके समस्त उन्नतिमार्गानुवर्ती पथिकोंके साथ यात्रा करनेकी प्राणपणसे चेष्टा करेंगे।
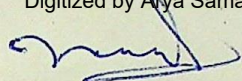
विलासकी फाँसी ।

अँगरेज़ी समाचारपत्रोंमें इस बातकी आलोचना प्रायः देखी जाती है कि आजकल अँगरेज़ अपनी परितृप्तिके लिए पहलेसे अधिक खर्च करते हैं । उनमेंसे बहुतोंका कथन है कि तनख्वाह और मज़दूरीकी दर बेतरह बढ़ जानेपर भी अब जीवनयात्रा निर्वाह करना पहलेसे कहीं कठिन होगया है । केवल उनकी भोगस्पृहा ही नहीं बढ़ी है, बल्कि उनकी आडम्बरप्रियता भी अधिक हो गई है। केवल इँग्लैण्ड और वेल्समें प्रतिवर्ष साढ़े तीन लाखसे अधिक मनुष्य ऋणपरिशोध न करनेके कारण अदालतोंमें हाजिर होते हैं । इस ऋणका अधिकांश आडम्बरका ही फल है । अल्प आयवाले पहले सजावट बनावटमें जितना व्यय करते थे आज उससे कहीं अधिक व्यय करते हैं । विशेषकर पोशाकका ऋण चुकानेमें ही गृहस्थ फ़क़ीर हो रहे हैं । जो स्त्रियाँ मोदीकी दूकानोंमें काम करती हैं, छुट्टीके दिनोंमें उनके कपड़े देखकर लोगोंको भ्रम हो जाता है कि ये बड़े घरोंकी स्त्रियाँ हैं, और ऐसा अकसर होता भी है । जिन डयूकोंकी जमीन्दारियोंसे बहुत बड़ी आमदनी है उनके घर भी खर्चीले नेवंतेके मारे टोटा होरहा है; जिनकी आय कम है उनकी तो बात ही नहीं । इससे विवाहकी ओरसे लोगोंका मन हट रहा है और इससे बहुतेरे बुरे फल फल रहे हैं ।

यह बात किसीसे छिपी नहीं है कि इस भोग और आडम्बरकी तरङ्गें हमारे देशमें भी उठ रही हैं। पर तौभी हमारे यहाँकी आयका पथ बिलायतकी अपेक्षा कहीं संकीर्ण है । केवल यही नहीं, देशकी

उन्नतिके लिए जिन आयोजनोंकी आवश्यकता है वे भी हमारे देशमें धनकी कमीसे पूरे नहीं हैं।

लोगोंसे वाहवाही लूटना भी आडम्बरका एक उद्देश्य है। हम नहीं मान सकते कि वाहवाही लूटनेकी इच्छा पहले आजकलसे कम थी। निस्सन्देह उस समय भी समाजमें बड़ाई पानेकी इच्छा लोगोंमें आजकलकी तरह ही प्रबल थी। हाँ, तब अन्तर इतना ही है कि प्रसिद्धिका पथ तब और था अब और हो गया है।

उस समयके बड़े आदमी दान-पुण्य, धर्म-कर्म, पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रतमें खर्च करके नाम कमाते थे। ऐसी भी बात सुननेमें आती है कि इसी नाम कमानेके फेरमें पड़कर बहुतेरे धनी गृहस्थ वित्तसे बाहर खर्च करके कंगाल हो गये हैं।

किन्तु यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि जिस आडम्बरकी गति अपनी भोगलालसा तृप्ति करनेकी ओर नहीं है वह साधारण तौरसे नितान्त असंयत नहीं हो जाता है और सर्वसाधारणमें भोग-के आदर्शको बढ़ा कर चारों ओर विलासकी महामारीकी सृष्टि नहीं करता है। मान लो, जिस धनीके घरमें नित्य अतिथिसेवा होती थी उसका इस सेवामें व्यय चाहे जितना ही अधिक क्यों न हो, पर अतिथि जो भोजन पाते थे उसमें विलासिताका लेश नहीं होता था। विवाहादि कार्योंमें बिन-नेवते मेहमानोंकी कुछ रोकटोक नहीं थी सही, पर इससे यज्ञका बहुत बड़ा आयोजन होने पर [illegible]ह बड़ा सीधा सादा होता था। इससे साधारण लोगोंके [illegible]में फ़र्क नहीं पड़ता था।

आजकल व्यक्तिगत भोगका आदर्श बड़ा हो गया [illegible] लिए वाहवाहीकी धारा भी उसी ओर फिर गई है। अब लोग [illegible]ने पीने

समाज-

कपड़े लत्ते, घर द्वार, गाड़ी घोड़े, सर सामानसे अपना बड़प्पन दिखलाते हैं। अमीरोंमें आजकल इसी बातकी होड़ लगी है। इससे केवल उनकी ही चाल नहीं बढ़ी है, जो असमर्थ हैं उनकी भी बढ़ रही है। इन बातोंसे हमारे देशमें कितना दुःख बढ़ गया है यह आलोचना करनेसे ही मालूम होगा। क्योंकि, हमारी समाजका गठन अब भी बदला नहीं है। यह समाज बहुसम्बन्धविशिष्ट है। दूर निकट, स्वजन परिजन, अनुचर परिचर, किसीको भी यह समाज अस्वीकार नहीं करती है। अतएव इस समाजके क्रियाकर्मोंको बड़ा करनेके लिए उन्हें सरल करना अत्यावश्यक है। यह न होनेसे वे मनुष्योंके लिए असाध्य हो जायँगे। यह पहले ही कह चुका हूँ कि अब तक हमारे सामाजिक कर्मोंमें सरलता और विपुलताका सामञ्जस्य था। अब साधारणकी चालढाल बढ़ गई है, पर तौभी हमारी समाजकी परिधि उतनी सङ्कुचित नहीं हुई है। इसी हेतु साधारण लोगोंके लिए ये सामाजिक कृत्य दुःसाध्य हो गये हैं।

मैं जानता हूँ कि एक मनुष्य तीस रुपये मासिक वेतनपर काम करता था। उसके पिताकी मृत्युके बाद श्राद्धकी चिन्ता उसे पितृवियोगसे भी बढ़कर सताने लगी। मैंने उससे कहा कि "तुम अपनी आय और सामर्थ्यके अनुसार श्राद्ध क्यों नहीं करते?" उसने कहा "ऐसा हो नहीं सकता" क्योंकि ग्रामके लोगों और आत्मीय कुटुम्बोंके न खिलानेसे पीछे उसे आफतमें फँसना पड़ेगा। इस दरिद्र पर समाजका दावा ज्योंका त्योंही है, पर साथ ही समाजकी क्षुधा बढ़ गई है। पहले जिस प्रकारके आयोजनसे साधारण तृप्ति होती थी, अब उससे वैसी नहीं होती है। जो क्षमताशाली धनी हैं वे समाजको ताख पर रख सकते हैं; वे शहरोंमें जाकर केवल

मित्रमण्डलीकी सहायतासे सामाजिक कार्य कर सकते हैं; पर जिन पर लक्ष्मीकी कृपा नहीं है उनका किसी तरह भी छुटकारा नहीं ।

मैं बीरभूम जिलेके एक किसानके घर गया था । उस किसानने अपने बेटेको नौकरी दिला देनेके लिए मुझसे कहा । तब मैंने कहा "तू अपने लड़केको, खेतीका काम छुड़ाकर, पराधीन क्यों बनाना चाहता है ?" उसने कहा—"बाबू, एक दिन वह था जब हम खेतीसे ही सुखी थे, पर अब उससे काम नहीं चलता ।" मैंने पूछा,—"क्यों ?" उसने उत्तर दिया,—"हमारी चाल ढाल बदल गई है । पहले जो नातेदार घरपर आते थे वे चूड़ा और गुड़से ही सन्तुष्ट हो जाते थे, पर अब सन्देश[1] न पानेसे निन्दा करते हैं। हमने जाड़ेके दिन दुलाईसे ही काटे थे, पर अब विलायती रैंपरके बिना लड़के मुँह फुला लेते हैं । हम नंगे पैरों सुसराल गये हैं, पर अब विलायती जूतोंके बिना लड़के लाजसे सिर नीचा करते हैं । इसलिए अब केवल खेतीसे किसानोंका काम नहीं चलता ।"

बहुत लोग कहेंगे कि यह शुभ लक्षण है। अभावकी ताड़ना लोगोंको सचेष्ट कर देती है । इससे उनकी सारी क्षमतामें विकाश लाभ करनेकी उत्तेजना होती है । बहुतसे यह भी कहेंगे कि बहु-सम्बन्धयुक्त समाज व्यक्तित्वको दबाकर नष्ट कर डालती है । अभावके दबावमें पड़कर इस समाजके बहुतेरे बन्धनोंके ढीले होजानेसे मनुष्य स्वाधीन हो जायँगे । इससे देशका मंगल होगा ।

इन सब तर्कोंकी मीमांसा संक्षेपमें नहीं हो सकती । युरपमें कुछ लोग भोगकी सामग्री जुटाकर, अनेकोंको मारकर, क्षमताशाली बन जाते हैं । हिन्दूसमाजतन्त्रमें कुछ लोगोंको कई आदमियोंके लिए

---

[1] बंगालकी एक प्रकारकी मिठाई, जो कच्चे दूधको फाड़कर बनाई जाती है।

स्वार्थत्याग करनेको लाचार कर समाज क्षमताशाली बन जाती है। इन दोनोंमें भलाई बुराई है। युरपकी चाल ही यदि श्रेष्ठ सिद्ध होती तो फिर कुछ कहनेकी बात ही न थी। युरपके विद्वानोंकी बातोंपर ध्यान देनेसे जाना जाता है कि इस विषयमें उनमें भी मतभेद है।

चाहे जिस प्रकारसे हो, यदि हमारी हिन्दूसमाजकी सब गाँठें ढीली हो जाँय तो यह निश्चय है कि जिस अटल आश्रयमें कई हजार वर्षोंसे हिन्दूजाति बहुतेरे आँधी तूफानोंको झेलती आरही है वह नष्ट हो जायगा। इसके स्थानमें कोई दूसरा आश्रय बन जायगा या नहीं, और बनजानेपर भी वह हमें कितना सहारा दे सकेगा, यह हमें मालूम नहीं। ऐसी दशामें हमारे पास जो कुछ है उसका विनाश हम निश्चिन्त होकर नहीं देख सकते।

मुसलमानोंके अमलमें हिन्दूसमाजकी जो कुछ भी क्षति नहीं हुई इसका कारण यह है कि उन दिनों भारतवर्षका आर्थिक परिवर्त्तन नहीं हुआ था। भारतवर्षके रुपये भारतवर्षहीमें रहते थे, बाहरकी ओरसे उनके न खींचे जानेके कारण हमारे यहाँ अन्नकी प्रचुरता थी। इस कारण हमारा सामाजिक व्यवहार सहज ही बहुव्यापक था। उस समय धनोपार्जनकी ओर हमारे प्रत्येक व्यक्तिका ध्यान इस तरह नहीं गया था। उन दिनों समाजमें धनकी मर्यादा अधिक नहीं थी और धन ही सबसे ऊँची क्षमता नहीं समझा जाता था। और यह बात भी नहीं थी कि धनी वैश्योंने समाजमें उच्चस्थानपर अधिकार कर लिया था। इस कारण, धनको श्रेष्ठ आसन देनेपर जनसाधारणके मनमें जो हीनता आती है वह हमारे देशमें नहीं थी।

अब रुपयेके विषयमें समाजके सभी कोई बेतरह चौकन्ने हो उठे हैं। इस कारण हमारी समाजमें भी ऐसी दीनता आगई है

जिससे 'रुपया नहीं है' यह कहना सबसे बढ़कर लज्जाका विषय हो गया है । इससे धनके आडम्बरकी प्रवृत्ति बढ़ जाती है, लोग क्षमतासे अधिक व्यय करते हैं, सभी अपनेको धनी सिद्ध करना चाहते हैं । वणिक् जातिने राजसिंहासनपर बैठकर हमें धनदासत्वके दारिद्र्यकी दीक्षा दी है।

मुसलमान समाजमें विलासिता यथेष्ट थी और उस विलासिताने हिन्दूसमाजको बिल्कुल ही स्पर्श नहीं किया है, यह मैं नहीं कह सकता । किन्तु यह विलासिता साधारण लोगोंमें नहीं फैली थी। उस समय विलासिताका नाम नवाबी था । अब विलासिताका नाम बाबूगरी है और देशमें बाबुओंकी कमी नहीं है।

इस बाबूपनकी होड़ बढ़ जानेके कारण हम कितनी ओरसे कितने दुःख पारहे हैं इसकी कोई सीमा नहीं है। इसका एक दृष्टान्त लीजिए। एक ओर समाजके विधानके अनुसार लोग एक विशेष वयसमें कन्यादान करनेके लिए बाध्य हैं और दूसरी ओर अब पहलेकी तरह निश्चिन्तचित्तसे विवाह नहीं किया जा सकता । गृहस्थ-जीवनके भार-वहनसे युवक डरते हैं । ऐसी दशामें कन्याके विवाह करनेके लिए यदि वरको रुपये देकर फुसलाना पड़े तो आश्चर्य ही क्या है? जीवनयात्राके वर्त्तमान आदर्शके अनुसार रुपयेका परिणाम भी बढ़ जायं तो आश्चर्य नहीं। आजकल तिलक लेनेकी चालके विरुद्ध आलोचनायें हो रही हैं; वस्तुतः इससे बंगाली गृहस्थोंका दुःख अत्यन्त बढ़ गया है इस विषयमें तनिक भी सन्देह नहीं है। आजकल बंगालमें ऐसे पिता बहुत ही कम निकलेंगे जो कन्याके विवाहके कारण उद्विग्न न हों । परन्तु इसके लिए हमारी वर्त्तमान साधारण अवस्थाके सिवा किसी व्यक्तिविशेषपर दोषारोप नहीं किया

जा सकता है । एक ओर भोगका आदर्श ऊँचा होजानेसे गृहस्थी-का खर्च बहुत बढ़ जाने और दूसरी ओर कन्याका विवाह निश्चित वयसमें ही करनेकी लाचारीसे वरका मूल्य विना बढ़े रह नहीं सकता। इससे बढ़कर लज्जा और अपमानकी प्रथा और नहीं है। जीवनका सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध दूकानदारीसे आरम्भ करना—जो आज नहीं कलसे अपना गिना जायगा उसपर आत्मीयताका अधिकार जमानेके लिए निर्लज्जता और निर्दयतासे मोल तोल करना—इसके समान दुःसह नीचता जिस समाजमें प्रवेश कर गई है, उसका कभी कल्याण नहीं है, वह निश्चय ही सत्यानाशकी राह पर चली है। जो इन बुराइयोंको दूर करना चाहते हैं वे इसकी जड़में कुल्हाड़ी न मारकर यदि इसकी डालपत्तियोंके काटनेकी चेष्टा करें तो उससे क्या लाभ है? हरएक आदमी अपनी जीवनयात्राको सरल करे, संसारके बोझको हलका करे, भोगके आडम्बरको घटावे, तभी लोगोंके लिए गृहस्थ होना सहज होगा, रुपयेका अभाव और उसकी आकांक्षा ही सर्वोच्च बनकर लोगोंको इतना निर्लज्ज न बनावेगी। हमारे देशकी समाजकी नीव घर ही है; यदि हम उसी घरको सहज न करें, मङ्गलमय न बनावें, उसे त्यागके द्वारा निर्मल न करें तो अर्थोपार्जनके हजारों नये रास्तोंके आविष्कृत होनेपर भी दुर्गतिसे हमारा निस्तार नहीं होगा।

एक बार विचार कर देखो कि आज नौकरीने बंगाली भद्रसमाजके गलेमें कैसी फाँसी डाल दी है। यह नौकरी चाहे जितनी ही दुर्लभ होती जाय, इसका मूल्य चाहे जितना ही कम होता जाय, इसका अपमान चाहे जितना ही दुःसह होता जाय, हमने उसके सामने अपना सिर झुका दिया है। इसी देशव्यापी नौकरीके मारे आज सारी बंगाली जाति दुर्बल, लाञ्छित और आनन्दहीन हो रही

है। इस नौकरीकी मायासे बंगालके बहुतसे सुयोग्य सुशिक्षित लोग केवल अपमानको सम्मान ही नहीं समझ रहे हैं बल्कि देशसे जो उनका धर्मबन्धन है उसे भी तोड़नेके लिए बाध्य हो रहे हैं। इसका एक दृष्टान्त लीजिए। विधाताके लीलासमुद्रसे एक तरङ्गने आकर आज जब समस्त देशके हृदयस्रोतके मुखको आत्मशक्तिकी ओर फिरा दिया है तब विमुख कौन है? तब जासूसी करके सचको झूठ कौन बना रहा है? तब धर्मासनपर बैठकर अन्यायके दण्डसे देशको पीडित करनेमें कौन सहायता दे रहा है? तब बालकोंके गुरु होनेका पवित्र पद ग्रहण करके भी उन्हें अपमान और निर्यातनाके हाथमें अनायास समर्पण करनेके लिए कौन उद्यत हो रहा है? जिन्होंने नौकरीकी फाँसी गलेमें पहन ली है। वे केवल अन्याय ही करनेके लिए बाध्य हो रहे हैं यही नहीं, बल्कि वे अपनेको भुला रहे हैं और यह प्रमाणित करनेकी चेष्टा कर रहे हैं कि देशके लोग भूल रहे हैं। अच्छा कहो तो सही, देशके योग्यतम शिक्षित सम्प्रदायके गलेमें यह जो नौकरीकी फाँसी पड़ी है इसकी खैंचन कैसी जान लेनेवाली है, इस खैंचनको हम प्रतिदिन किस तरह बढ़ा रहे हैं? नवाबी, साहबी और बाबूगरीको रोज बेतहाशा बढ़ाकर, मनको विलासके अधीन कर, गुलामीके पट्टेकी शर्तें और मियाद बढ़ाते चले जाते हैं।

जीवनयात्राको सुलभ करनेके साथ ही इस देशव्यापी नौकरीकी फाँसी एक मुहूर्त्तमें ढीली हो जायगी। तब खेतीबारी अथवा और किसी सामान्य व्यवसायमें प्रवृत्त होनेमें डर नहीं लगेगा। तब इस प्रकार चुपचाप अपमान सहकर पड़ा रहना सहज नहीं होगा।

हममें विलासिता बढ़ गई है। इससे बहुतेरे लोग कल्पना करते हैं कि यह हमारी धनवृद्धिका लक्षण है। किन्तु यह विचार कर

देखना पड़ेगा कि पहले जो धन जनसाधारणके काममें व्यय होता था वह अब व्यक्तिगत भोगमें खर्च हो रहा है। इसका फल यही होता है कि देशके भोगविलासके स्थान समृद्धिशाली हो रहे हैं—शहरोंमें चहल पहल बढ़ रही है, किन्तु छोटे छोटे गाँवोंमें भंख लोट रहा है। सारे बंगालके गाँवोंमें देवमन्दिर टूट टूट कर गिर रहे हैं; तालाबोंका पानी खान पानके अयोग्य हो रहा है, गाँव सब जंगल हो रहे हैं और जिस देशमें बारहों मास तीज तेहवारोंकी धूम रहती थी वहाँ अब आनन्दका नाम नहीं, सदा सन्नाटा छाया रहता है। देशका अधिकांश धन शहरोंमें खिंच कर महल इमारत, घोड़ा गाड़ी, ठाट बाट भोगविलास आदिमें उड़ रहा है; तौभी जो इस प्रकार भोग-विलास और आडम्बरमें डूब गये हैं उनमेंसे प्रायः कोई भी सुखी नहीं है, उनमेंसे बहुतोंको खर्च चलाना मुश्किल है, बहुतोंको ऋण हो गया है और बहुतोंका जीवन ऋणदाताओंके पंजेसे अपनी बपौती छुड़ानेमें नष्ट होरहा है; बहुतोंके लिए कन्याका विवाह करना, पुत्रका लालन पालन करना, बाप दादाओंका नाम बनाये रखना बहुत ही कठिन हो रहा है। जो धन सारे देशके अभावविशेषको दूर करनेके लिए चारों ओर फैल जाता था वही धन संकीर्णस्थानमें बन्द होकर जिस ऐश्वर्यकी माया फैला रहा है वह विश्वास करनेके योग्य नहीं है। यदि सारे शरीरके बदले केवल मुखमें ही रक्तका सञ्चार हो तो वह स्वास्थ्यकी अवस्था नहीं कही जासकती है। देशके धर्मस्थान, बन्धुस्थान और जन्मस्थानको दुबला करके केवल भोगस्थानको फुला देने पर ऊपरसे मालूम होता है कि देशकी श्रीवृद्धि हो रही है। इसी कारण यह छद्मवेशी सर्वनाश ही हमारे लिए अत्यन्त भयावह है। मङ्गल करनेकी शक्ति ही धन है, विलास नहीं।

नक़लका निकम्मापन ।

अँगरेज़ीमें एक कहावत है कि सबलाइम (Sublime) से हास्यकर (Ridiculous) का अन्तर अधिक नहीं है । संस्कृत अलङ्कारका अद्भुत रस सब्लीमिटी (Sublimity) का प्रतिशब्द है । किन्तु अद्भुत रस दो प्रकारका है—हास्यकर अद्भुत और विस्मयकर अद्भुत ।

दो दिनके लिए मैं दार्जिलिङ्ग घूमने गया था । वहाँ ये दोनों प्रकारके अद्भुत एकत्र देखनेमें आये । एक ओर देवतात्मा नगाधिराज हिमालय और दूसरी ओर विलायती कपड़े पहने हुए बंगाली—सबलाइम और हास्यकर बिल्कुल ही एक दूसरेसे चिपटे हुए ।

मैं यह नही कहता कि अँगरेज़ी कपड़े ही हास्यकर हैं, न मैं यह बात ही उठाना चाहता हूँ कि बंगालियोंका अँगरेज़ी कपड़ा पहनना ही हास्यकर है । किन्तु बंगालियोंके शरीरपर बेमेल विलायती कपड़े यदि करुणरसात्मक न हों तो हास्यकर तो निस्सन्देह हैं । मैं आशा करता हूँ कि इस विषयमें किसीके साथ मतभेद न होगा ।

धोती एक तरहकी है तो टोपी दूसरी तरहकी, कलर है तो टाई नहीं, कुरता शायद उस रंगका है जिसे देखकर अँगरेज़ डर जाते हैं । सारी बेमेल पोशाक शायद ऐसी है जिसे घरके बाहर पहनना अँगरेज़ नंगेके बराबर समझते हैं । ऐसी बेसमझीकी सजावटका कारण क्या है ?

यदि कोई अँगरेज़ अपनी धोतीकी काछ आगे और चुनन पीछे रख कर बंगाली टोलेमें घूमे तो वह सम्मान पानेकी आशा नहीं कर

सकता है। हमारे जो बंगाली भाई अद्भुत विलायती ठाठसे गिरिराज-की राजसभामें भाँड़ बन कर घूमते हैं वे घरके पैसे खर्च करके अँगरेज़ दर्शकोंके तमाशे बनते हैं।

बेचारे और क्या करेंगे? वे अँगरेज़ी चाल किस तरह जानेंगे? जो विलायत होकर आये हैं और बंगालियोंकी चाल जानते हैं वे ही अपने देशी भाइयोंके इस बेमेल पहनावेसे सबसे अधिक लज्जित होते हैं। वे ही सबसे अधिक विगड़कर कहते हैं—"यदि नहीं जानते हैं तो क्यों पहनते हैं? सिर्फ़ अँगरेज़ोंकी नज़रोंमें हमें नीचा दिखलाते हैं।"

क्यों नहीं पहनेंगे? तुम अगर पहनो और देशी पोशाक पहननेवालोंसे अपनेको बड़ा समझो तो उस बड़प्पनसे वे क्यों वञ्चित रहने लगे? अगर तुम्हारी राय यह हो कि हमारा स्वदेशी ठाठ छोड़नेके योग्य है और विदेशी ग्रहणके, तो तुम्हारे दलमें आकर जो मिलते हैं उनको रोकनेसे काम नहीं चलेगा।

तुम कहोगे कि यदि विलायती पोशाक पहनना है तो पहनो, पर कौन भले मानसके योग्य है और कौन नहीं, कौन उचित है और कौन विचित्र, इसका ज्ञान प्राप्त कर लो।

किन्तु यह कभी सम्भव नहीं हो सकता है। जो अँगरेज़ी समाजमें नहीं है और जिनके भाई बिरादर बंगाली हैं वे अँगरेजी रीतिका आदर्श क्यों कर पाने लगे?

जिनके पास रुपये हैं वे रैंकेन हार्मनके[1] हाथमें आँखें बन्द कर आत्मसमर्पण कर देते हैं, बड़ी बड़ी चेकोंमें सही कर देते हैं

१ रैंकेन (Ranken), हार्मन (Harman)–कलकत्तेके प्रसिद्ध अँगरेज़ी पोशाक बनाने और बेचनेवाले।

और मन ही मन खुश होते हैं कि और चाहे कुछ न हो, पर हमें देखकर, लोग कमसे कम भद्र गोरे तो अवश्य समझेंगे और कोई यह बेढब कलङ्क नहीं लगा सकेगा कि यह अँगरेजी तमीज नहीं जानता है।

किन्तु पन्दरह आना बंगालियोंको रुपयेका टोटा है और चांदनी[1] ही उनके बंगाली ठाठका चरम मोक्षस्थान है । इसलिए उलट पलट, भूल चूक होगी ही। ऐसी दशामें दूसरोंकी पोशाककी नक़ल करनेसे बहुरूपिया बननेके सिवा दूसरी गति नहीं है।

दो चार कव्वे अवस्था-विशेषमें मोरके पंख मनमानें तौरसे लगा सकते हैं, पर सब कव्वे वैसा किसी तरह नहीं कर सकते, क्योंकि मोरोंकी समाजमें उनकी घुस पैठ नहीं है । ऐसी दशामें समस्त काक-सम्प्रदायकी हँसी न करानेके लिए ऊपर कहे हुए दो चार भेष बदलने-वालोंको मोरपंखके लोभको रोकनां ही पड़ेगा । यदि न रोकें तो नक़ल करनेकी भद्दी चाल सर्वत्र फैल जायगी।

इस लज्जासे, अँगरेज़ीपनके इस विकारसे स्वदेशको बचानेके लिए क्या हम ज़बरदस्त नक्क़ालोंसे सविनय प्रार्थना नहीं कर सकते हैं? क्योंकि, वे समर्थ हैं और सब असमर्थ हैं। यहाँ तक कि किसी विशेष अवस्थामें उनके पुत्रपौत्र भी असमर्थ हो जायँगे। वे जब गोरी सभ्यता-के गढ़ेमें समाजसे निकाले हुए कूड़ेकी तरह पड़े पड़े सड़ेंगे तब क्या रैंकेनविलासियोंकी प्रेतात्मा शान्तिलाभ करेगी?

दरिद्र किसी तरह भी दूसरोंकी नक़ल भलीभाँति नहीं कर सकता है। नक़ल करनेके लिए बहुतसी सामग्रियाँ चाहिए। बाहर-

---

१ चाँदनी चौक—कलकत्तेका एक बाजार जहाँ विलायती कपड़े वगैरह बिकते है।

से उनके लिए बहुत तैयारियाँ करनी पड़ती हैं। जिसकी नक़ल करनी होगी सदा उसके संसर्गमें रहना होगा। दरिद्रोंके लिए यही सबसे कठिन है। ऐसी अवस्थामें नक़ल करनेसे आदर्श-भ्रष्ट होकर एक अद्भुत जन्तु बन जाना पड़ता है। बंगालियोंके लिए ऊँची धोती पहनना लज्जाकी बात नहीं है, पर ऊँची पतलून पहनना लज्जाकी बात है। क्योंकि, ऊँची पतलूनसे केवल उनकी असमर्थता ही नहीं मालूम होती है, बल्कि उससे दूसरोंकी नक़ल करनेकी जो चेष्टा और स्पर्धा प्रकट होती है वह दरिद्रताके साथ किसी तरह भी सुसङ्गत नहीं है, यह भी जाना जाता है।

आचार-व्यवहार और सजावट वृक्षके पौधे जैसी है। उसे उखाड़ कर लानेसे वह सूखकर या सड़कर नष्ट हो जाता है। विलायती वेशभूषा और अदब—क़ायदेके लायक़ मिट्टी यहाँ कहाँ? वह कहाँसे अपना अभ्यस्त रस चूस कर सजीव रहेगा? एकआध आदमी खर्च करके बनावटी तरीक़ेसे मिट्टी मँगा सकता है और रातदिन होशियार रहके और जी जानसे कोशिश करके उसे किसी तरह खड़ा रख सकता है। किन्तु यह केवल दोचार शौकीनोंसे ही हो सकता है।

जिसे पालन कर सजीव नहीं रख सकते हैं उसे घरमें लाकर और सड़ा कर हवा बिगाड़नेकी क्या ज़रूरत है? इससे दूसरोंका भी नाश होता है, और अपनेकी भी मिट्टी पलीद होती है। सबकी मिट्टी पलीद करनेकी तैयारी बंगालमें ही देखी जाती है।

तब क्या परिवर्त्तन न होगा? जहाँ जो है वह क्या वहाँ सदा एक ही तरह रहेगा?

प्रयोजनके नियमके अनुसार परिवर्त्तन होगा, अनुकरणके नियमानुसार नहीं। क्योंकि, अनुकरण बहुधा प्रयोजनके विरुद्ध होता है

वह सुख, शान्ति और स्वास्थ्यके अनुकूल नहीं है । चारों ओरकी अवस्थाके साथ उसका समञ्जस्य नहीं है। उसे चेष्टा करके लाना पड़ता है और कष्ट उठाकर रक्षा करनी पड़ती है।

अतएव रेलगाड़ीमें सफ़र करनेके लिए, आफ़िस जानेके लिए, और नई नई ज़रूरतोंके लिए कटे छटे कपड़े बनवा लो। तुम उसे देश, काल, पात्रके अनुसार बनवा लो। सम्पूर्ण इतिहासविरुद्ध, भाव-विरुद्ध, सङ्गतिविरुद्ध अनुकरणकी ओर, मूर्खकी तरह, मत दौड़ो।

पुरानेके परिवर्त्तन और नयेके निर्माण करनेमें दोष नहीं है। आवश्यकता होने पर सब जातियोंको सदा यह करना पड़ता है। किन्तु ऐसी हालतमें ज़रूरतकी दुहाई देकर पूरी नक़ल करनेसे काम नहीं चलता है। ज़रूरतकी दुहाई बस बहाना ही बहाना है। क्योंकि, पूरी नक़लसे कभी पूरा फ़ायदा नहीं हो सकता है। हो सकता है कि किसी विषयका एक अंश कामका हो और दूसरा फ़ालतू। कदाचित् अँगरेज़ी पहनावेका छटा हुआ कोट दौड़ धूपके लिए आवश्यक हो सकता है, पर उसका वेस्टकोट अनावश्यक और उत्तापजनक है। उसकी टोपी कदाचित् माथेमें गपसे पहन लेना सहज हो सकता है, पर टाई और कलर बाँधनेमें समयको व्यर्थ नष्ट करना होता है।

जहाँ परिवर्त्तन और नूतन निर्म्माण असम्भव और शक्तिके बाहर है वहीं अनुकरण करना क्षमाके योग्य हो सकता है। पहनने ओढ़नेके विषयमें यह कभी नहीं चल सकता है।

विशेषकर कपड़े लत्तेसे केवल शरीर ही नहीं ढाँपा जाता बल्कि उससे ऊँच नीच, देशी विदेशी, स्वजाति विजातिका भी परिचय मिलता है। अँगरेज़ी वस्तुकी शिष्टता अँगरेज़ ही लोग जानते हैं। हमारे अधिकांश भलेमानसोंको इसके जाननेकी सम्भावना नहीं है। यदि जान

नेकी चेष्टा करें तौभी सदा डरते हुए दूसरोंके मुखकी ओर ताकना पड़ता है।

इसके बाद है स्वजाति विजातिकी बात। कोई कहते हैं कि अपनी जाति छिपानेके लिए ही विलायती कपड़े दरकार होते हैं। यह बात कहनेमें जिसे लज्जा नहीं है उसे कौन लज्जित कर सकता है? रेलवे-के गोरे गार्ड गोरा भाई समझ कर जो आदर करते हैं उसका लालच रोकना ही अच्छा है। किसी किसी रेलवेमें देशी-विदेशियोंके लिए अलग अलग गाड़ियाँ हैं; किसी किसी होटलमें देशी घुसने भी नहीं पाते हैं। इसलिए गुस्से होकर दुःख पानेका अवसर यदि हाथमें हो तो वह दुःख स्वीकार करो। परन्तु जन्म छिपाकर ऐसी गाड़ी या होटलमें प्रवेश करनेसे क्या सम्मान बढ़ेगा, यह समझना कठिन है।

कितना परिवर्त्तन अनुकरण कहा जासकता है, यह निश्चय करना कठिन है। तब हाँ, साधारण नियमकी तरह एक बात कही जास-कती है।

जिस अंशका मेल अपने साथ मिल जाय, उसके लेनेका नाम ग्रहण करना है और जिसका नहीं मिले उसका लेना अनुकरण करना है।

पैतावा (मोजा) पहननेसे कोट पहनना ज़रूरी है, यह कुछ बात नहीं। धोतीके साथ भी पैतावा कभी चलता है और कभी नहीं चलता। किन्तु कोटके साथ धोतीका और हेटके साथ चपकनका मेल नहीं मिलता है। साधु अँगरेज़ी भाषाके साथ बीच बीचमें फ्रान्सीसी भाषा मिलानेसे भी काम चलजाता है यह अँगरेज़ी पाठक जानते हैं, किन्तु यह मिलावट कितनी दूर तक हो सकती है इसका

निश्चय ही बिनालिखा नियम है। वह नियम बुद्धिमान व्यक्तिको सिखाना निरर्थक है। तथापि तर्क करनेवाला कह सकता है कि यदि तुम इतनी दूर चले गये तो मैं जरा और आगे बढ़ गया, तो मुझे कौन रोकेगा ? बात तो ठीक है। यदि तुम्हारी रुचि तुम्हें न रोके तो किसके बाप दादेकी सामर्थ्य है कि तुम्हें रोक सके।

पहनावेके विषयमें भी यही तर्क हो सकता है। जिनका सिरसे पैर तक विलायती ठाट है वे समालोचकको कहते हैं—तुम चपकनके साथ पतलून क्यों डाटते हो ? अन्तमें इस तर्कसे झगड़ा खड़ा हो जाता है।

इस विषयमें मेरा कथन यही है कि यदि अन्याय हुआ हो तो निन्दा करो, संशोधन करो, यदि दूसरे किसी प्रकारका पाजामा कामका और देखनेमें अच्छा हो तो उसे पतलूनके बदले पहनो—पर केवल इसी कारण सारे देशी कपड़े क्यों छोड़ बैठोगे ? एक आदमीने अपना एक कान काट डाला, इस लिए दूसरा भी खामख्वाह अपने दोनों कान काट डाले इसमें क्या बहादुरी है, यह समझमें नहीं आता।

नये प्रयोजनके साथ जब पहले पहल परिवर्त्तनका आरम्भ होता है तब एक प्रकारकी अनिश्चयताका प्रादुर्भाव हुआ ही करता है। उस समय कहाँ तक क्या होगा इसकी कोई सीमा नहीं रहती है। कुछ दिनकी रेल-पेलके बाद आपसमें सीमानाबन्दी आप ही पक्की हो जाती है। उसी अनिवार्य अनिश्चयता पर दोष लगाकर जो पूरी नक़ल करनेकी ओर आगे बढ़ते हैं वे बहुत ही बुरा दृष्टान्त दिखाते हैं।

क्यों कि आलस्य संक्रामक है। दूसरोंकी बनाई हुई चीजोंके लोभमें अपनी सारी चेष्टासे हाथ धो बैठनेका उदाहरण पानेसे लोग उस ओर आकृष्ट होते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि दूसरोंकी चीज़ कभी अपनी नहीं की जा सकती है। वे यह भी भूल जाते हैं कि दूसरोंके कपड़े पहननेसे सदा दूसरोंहीकी ओर ताकना पड़ेगा।

जिसके आरम्भमें जड़ता है उसका परिणाम विकार है। यदि आज यह कहें कि इतना कौन सोचे, चलो विलायती दूकानमें जाकर एक सूटके लिए आर्डर दे आवें—तो कल कहेंगे कि पतलून ऊँचा हो गया है, पर कौन इतना बखेड़ा करे, इसीसे काम चल जायगा।

काम चल जाता है, क्योंकि बंगाली समाजमें विलायती कपड़ेके बेमेलपनकी ओर कोई नज़र उठाकर नहीं देखता है। इसीसे जो लोग विलायत हो आये हैं उनमें भी बिलायती सजावटकी ढिलाई देखी जाती है। सस्तेपन पर नज़र रखने और सुस्तीके सबब उनमेंसे बहुतेरे अपना ठाटबाट ऐसा बनाते हैं जो भलमनसीके बिल्कुल बाहर है।

केवल यही नहीं। वे किसी बंगाली बन्धुके घर पर विवाहादि शुभकर्मके समय बंगाली भद्रपुरुषकी तरह कपड़े पहनकर जानेमें अपमान समझते हैं और विलायती शिष्टताके नियमके अनुसार निमंत्रणवस्त्र पहनकर आनेमें भी आलस करते हैं। विदेशी पहनावेमें कौन ठीक है और कौन नहीं, यह हम नहीं जानते; इसीसे वे शिष्ट समाजके विधि-विधानोंके बाहर चले जारहे हैं। अँगरेज़ी समाजमें सामाजिक भावमें उनकी घुसपैठ नहीं हो सकती है और देशी समाजकी वे

सामाजिक रूपसे उपेक्षा करते हैं, इसलिए उनका सारा आचरण अपने मनका है, अपने सुभीतेका है; उस विधानमें आलस्य और उदासीनताको बाधा देनेवाला कुछ भी नहीं है । विलायतके तजे हुए कपड़े इन सब विदेशियोंके शरीरमें कैसा बीभत्स रूप धारण करेंगे, यह कल्पना करनेसे ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं ।

केवल पहनावेमें ही नहीं, बल्कि आचार-व्यवहारमें ये बातें और भी अधिक घटती हैं । विलायतसे लौटकर जो अपनेको देशी चालसे बिलकुल अलग कर चुके हैं उनके आचार-व्यवहारको सदाचार और सद्व्यवहारकी सीमामें आबद्ध करके कैसे रक्खोगे? जिन अँगरेज़ोंका आचार उन्होंने अवलम्बन किया है उनके साथ वे घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रख सकते हैं और देशी समाजकी घनिष्ठताको वे ज़बरदस्ती काट चुके हैं ।

इञ्जन अलग कर लेनेपर भी गाड़ी कुछ देरतक चल सकती है, वेग यकायक रुक नहीं जाता है । विलायतका धक्का विलायतसे लौटे लोगोंपर कुछ दिनोंतक रह सकता है—पर पीछे वे कैसे चलेंगे?

समाजके हितके लिए सभी समाजोंमें कई कठोर नियम आप ही आप बन जाते हैं । जो अपनी इच्छासे अपनी समाजके त्याज्यपुत्र हैं और चेष्टा करनेपर भी दूसरोंकी समाजके पोष्यपुत्र नहीं हो सकते हैं, वे स्वभावसे ही दोनों समाजोंके नियमोंको तोड़कर केवल सुख लूटनेकी ही चेष्टा करेंगे । उससे क्या भला होगा?

इन लोगोंके तो दिन एक तरहसे कट जायँगे, पर इनके बेटे पोते क्या करेंगे? और जो नक़लकी नक़ल करेगा उसकी कैसी दुर्दशा होगी?

समाज—

देशके दरिद्रोंके भी समाज है। दरिद्र होनेपर भी उनकी गिनती भले आदमियोंमें हो सकती है। किन्तु अँगरेज़ बने दरिद्रोंका कहीं भी ठिकाना नहीं है। बंगाली साहब केवल धन सम्पत्ति और क्षमताके द्वारा अपनेको दुर्गतिसे बचाये रख सकता है। ऐश्वर्यके नष्ट होते ही उक्त बंगाली साहबका बेटा सब तरहसे आश्रयहीन होकर अपमानमें डूब जाता है। उस समय उसके पास न क्षमता ही रहती है और न समाज ही। न नूतनलब्ध पैतृक गौरवका ही चिह्न रहता है और न परम्परागत पैतामहिक समाजका ही आधार रहता है। उस समय वह कौन है?

जो केवल अनुकरण और सुविधाके लिए अपनी समाजसे अपनेको अलग कर रहे हैं, उनके पुत्रपौत्र उनके कृतज्ञ न होंगे यह निश्चय है; और जो दुर्बल चित्तवाले इनके अनुकरण करनेको दौड़ेंगे वे सब प्रकारसे हास्यास्पद हो जायँगे—इसमें भी सन्देह नहीं है।

जो लज्जाका विषय है उसीपर जब कोई विशेष रूपसे गौरव करे, तब मित्रोंका कर्त्तव्य है कि उसे सचेत कर दें। जो मनमें इस बातका गर्व करते हैं कि हमने साहबका अनुकरण किया है, वे वास्तवमें साहबाना ठाटका अनुकरण करते हैं। साहबाना ठाटका अनुकरण करना सहज है, क्योंकि वह बाहरका जड़ अंश है; परन्तु साहबका अनुकरण करना कठिन है, क्योंकि वह भीतरका मनुष्यत्व है। यदि उन्हें साहबके अनुकरण करनेकी शक्ति रहती तो वे कभी साहबाना ठाटकी नकल नहीं करते। अतएव यदि कोई मिट्टीका शिव बनाते बनाते उसके बदले कुछ और बना डाले, तो उसके लिए उसका कूद-फाँद न करना ही उत्तम है।

नक़लका निकम्मापन ।

आजकल हमारे देशमें एक अद्‌भुत दृश्य दिखाई देता है। हममें जो आज विलायती पोशाक पहनते हैं वे अपनी स्त्रियोंको साड़ी पहना कर बाहर लानेमें कुण्ठित नहीं होते हैं । गाड़ीकी एक ही सीटपर दाहिनी ओर हैट कोट और बायीं ओर बम्बईकी साड़ी । यदि कोई चित्रकार शिव-पार्वतीके सदृश नये बंगालके आदर्श दम्पति (पति-पत्नी)का चित्र खींचे तो वह चित्र यदि 'सब्लाइम' न भी हो, तो सब्लाइमका कुछ निकटवर्ती अवश्य ही हो जायगा।

प्रकृति पशुपक्षियोंके जगतमें पति-पत्नीकी सजावटमें बहुधा इतना प्रभेद कर देती है कि दम्पतिको एक जातिका समझनेके लिए बड़ी अभिज्ञताकी आवश्यकता हो जाती है। केसर न रहनेके कारण सिंहनीको सिंहकी स्त्री समझना कठिन है और कलापके अभावसे मोरके साथ मोरनीका सम्बन्ध निर्णय करना कठिन है।

यदि प्रकृति बंगालमें भी उसी प्रकारका एक नियम बना देती, यदि स्वामी पंख फैलाकर अपनी सहधर्मिणी पर प्रभाव डाल सकता, तो कोई झगड़ा ही न था। किन्तु यदि गृहस्वामी दूसरेके पर अपने पीछे खोंसकर घरमें अनैक्य फैलावे तो वह घरके लिए केवल दुःखका विषय ही न होगा, वरञ्च दूसरोंकी दृष्टिमें हास्यास्पद भी होगा।

जो हो, यह कार्य चाहे जितना ही असङ्गत क्यों न हो, पर जब यह हो चुका है तब इसका कुछ युक्तियुक्त कारण अवश्य ही है।

अँगरेज़ी कपड़ा भद्दा होनेसे जितना भद्दापन आजाता है उतना देशी कपड़ेमें नहीं आता। इसका एक कारण है। अँगरेज़ी पोशाकमें सरलता नहीं है, उसमें आयोजन और चेष्टाकी अधिकता है। यदि अँगरेज़ी कपड़ा शरीरमें चुस्त दुरुस्त न हो और यदि उसमें

शिकन या सल पड़ जाय तो वह शिष्ट लोगोंके लिए अपमानका कारण होजाता है, क्योंकि अँगरेज़ी कपड़ेका प्रधान उद्देश्य है देहमें नीचेसे ऊपर तक बस ठीक होना; उसमें देहको छिलकेकी तरह लपेट देनेकी सयत्न चेष्टा सदा वर्त्तमान रहती है। इसलिए पतलून यदि कुछ छोटा हो और कोट कुछ ऊँचा हो तो अपने मनमें ही शरम आती है और आत्मसम्मानमें बट्टा लग जाता है। जो इस विषयके न जाननेके कारण सुखपूर्वक अचेत रहते हैं उन्हें देखकर दूसरे लज्जित होते हैं।

इस सम्बन्धमें दो बातें हैं। पहली तो यह कि कितने ही लोग कहेंगे कि ठीक दस्तूर और फ़ैशनके मुताबिक ही कपड़े पहनने पड़ेंगे, इसके लिए क्या हमने क़सम खाली है? यह बात बहुत बड़े आदमियों और स्वाधीन प्रकृतिके मनुष्योंकी जैसी है। दसकी गुलामी और दस्तूरकी पाबन्दी–ऐसी सारी क्षुद्रताओंको धिक्कार है। किन्तु यह स्वाधीनताकी बात उनके मुँहसे अच्छी नहीं लगती जिन्होंने शुरूसे ही विलायती ठाट बाटकी नक़ल करनेके लिए गुलामीका पट्टा सिरसे पैर तक लिखा रखा है। यदि पाँव अपने हों तो उनके काटनेकी भी स्वाधीनता है। और यदि अपने ही फ़ैशनके मुताबिक चलें तो उसका लंघन करके भी अपना महत्त्व दिखला सकते हैं। दूसरोंकी राह पर चलें और उसे कलुषित भी करें, ऐसी वीरताका महत्त्व समझमें नहीं आता है।

और दूसरी बात यह है कि बहुतेरे लोग कहते हैं कि ब्राह्मणोंके लिए जैसे जनेऊ है वैसे ही विलायत हो आनेवालोंके लिए विलायती कपड़े हैं; उसे साम्प्रदायिक लक्षण समझ कर अलग रखना चाहिए।

किन्तु यह नियम नहीं चलेगा । आरम्भमें ऐसा ही था सही, पर आजकल बिना समुद्रपार गये भी बहुतसे लोग यह चिह्न धारण करने लगे हैं। हमारे उपजाऊ देशमें मलेरिया, हैजा आदि जो बीमारियाँ आई हैं वे चारों ओर फैले बिना मानती नहीं। विलायती कपड़ोंके भी दिन आये हैं। इन्हें देशके किसी भी प्रान्तसे अलग करना किसीके वशकी बात नहीं है।

दीन भारतवर्ष जिस दिन इङ्गलैण्डके उतारे हुए चिथड़ोंसे भूषित होकर खड़ा होगा, उस दिन उसकी दीनता कैसी बीभत्स विजातीय मूर्त्ति धारण करेगी ! आज जो केवल शोकका देनेवाला है वह उस दिन क्या ही निष्ठुर हास्यजनक हो जायगा ! आज जो स्वल्प वसनकी सरल नम्रतासे सम्पूर्ण आवृत है वह उसदिन फटे हुए कोटोंके छेदोंसे, पोशाककी हीनताके कारण, क्या ही निर्लज्ज भावसे अधूरा दिखाई देगा ! जिस दिन चुनागली[1] फैलकर सारे भारतवर्षको ग्रास करनेके लिए आवेगी, मैं चाहता हूँ कि उस दिन भारतवर्ष एक पद अग्रसर होकर अपने ही समुद्रके किनारे, मैले पतलूनके फटे छोरसे लेकर टूटे टोपके सिरे तक, नील समुद्रमें डुबो कर नारायणकी अनन्त निद्राका अंश प्राप्त करे।

किन्तु यह हुई सेण्टिमेंट (Sentiment) अर्थात् भावुकताकी बात। पर यह ऐसे कामकाजी आदमियोंकी सी बात नहीं कही जासकती जिनका होश हवाश दुरुस्त है। मरेंगे तब भी अपमान नहीं सहेंगे, यह भी सेण्टिमेंट है। विलायती कपडे अँगरेज़ोंके जातीय गौरवके चिह्न हैं, इसकारण उन्हें पहनकर हम अपने देशको अपमानित नहीं

१ चुनागली—कलकत्तेका एक महल्ला जहाँ साहब-बने देशी लोग रहते हैं।

करेंगे—यह भी सेण्टिमेंट है। इन सब सेण्टिमेण्टोंमें ही देशका यथार्थ बल और गौरव है; धनमें नहीं, राजपदमें नहीं, डाक्टरीकी निपुणतामें नहीं, वकालत बैरिस्टरीकी तरक्की करनेमें नहीं।

मैं समझता हूँ कि अभी इस सेण्टिमेण्टका कुछ आभास बाकी है, इसीसे विलायती ठाटबाटवालोंने, बहुत बेजोड़ होनेपर भी अपनी अर्द्धाङ्गिनियोंकी साड़ियाँ बचा रक्खी हैं।

बहुतेरे पुरुष कर्म्मक्षेत्रमें कामके सुभीतेके लिए, भावके गौरवका गला घोटनेमें मुँह नहीं मोड़ते, पर स्त्रियोंकी मण्डलीमें सुन्दरता और भावुकताकी बहुरंगी बनावटें, आज तक नहीं घुसी हैं। वहीं भाव-रक्षाके लिए थोड़ीसी जगह है। वहाँ घेरदार गाउनने[१] आकर हमारे देशी भावके बचे खुचे चिह्नको ग्रस नहीं लिया है।

यदि हम साहबाना ठाटको ही गौरवकी चरम सीमा समझते हों, तो स्त्रियोंको मेम बनाये बिना उस गौरवका अर्द्धभाग असम्पूर्ण रह जाता है। जब उन्हें मेम नहीं बनाया तब साड़ी पहने हुई स्त्रीको बायीं ओर बिठाना डंकेकी चोट साबित करना है कि हमने जो कुछ किया है केवल सुभीतेके लिए। अहा! अपने घरमें और अपनी स्त्रियोंकी पवित्र देहमें हमने भावकी मर्यादा रक्खी है।

किन्तु हम यह आशङ्का करते हैं कि इनमेंसे बहुत लोग इस बारेमें कुछ कठोर बातें कहेंगे। कहेंगे कि पुरुषके उपयोगी जातीय परिच्छद तुम्हारे पास कहाँ हैं जिन्हें हम पहनें। इसीको कहते हैं 'जले पर नोन' छिड़कना। पहले तो पहननेके समय मनमाने विलायती कपड़े पहन लिये और पीछे यह राग अलापने लगे कि तुम्हारे यहाँ कोई कपड़े ही न थे इसीसे हमें यह स्वाङ्ग बनाना पड़ा है। दूसरेके

१ गाउन (Gown)—मेमोंकी पोशाक।

कपड़े पहन लिये इसमें उतना हर्ज नहीं, पर यह कहना सरासर हिमाक़त है कि तुम्हारे यहाँ कपड़े ही न थे ।

साहब बने बंगाली लोग नाक भौं चढ़ाकर कहते हैं कि तुम्हारी जातीय पोशाक पहननेसे तो पैरमें चपड़तल्ली, घुटनेके ऊपर धोती और कंधे पर एक चादर रखनी होगी । यह हम किसी तरह न पहनेंगे । सुनकर मारे दुःखके चुप रह जाना पड़ता है ।

यद्यपि कपड़ेके अधीन मनुष्य नहीं है किन्तु मनुष्यके अधीन कपड़ा है और इस कारण मोटी धोती और चादर पहननेमें कुछ भी लज्जाकी बात नहीं है । विद्यासागरके[१] साथ,—केवल विद्यासागर ही नहीं हमारे बहुतसे मोटी चादर ओढ़नेवाले ब्राह्मणोंके साथ भी, गौरव और गम्भीरतामें विलायतसे लौटे हुए एक भी कोट पतलूनधारीकी तुलना नहीं हो सकती है । एक समय जिन ब्राह्मणोंने भारतवर्षको सभ्यताके ऊँचे शिखर पर चढ़ा दिया था, उनके वस्त्रोंकी नितान्त विरलता संसारमें विख्यात है । तथापि मैं इन सब बातों पर तर्क नहीं करना चाहता, क्योंकि समयने पलटा खाया है और उस परिवर्त्तनके बिलकुल विपरीत जानेसे आत्मरक्षा असम्भव हो जायगी ।

अतएव यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि बंगालमें जिसप्रकार धोती चादरका व्यवहार होता है वह आजकलके काम धन्धों और दफ्तर

---

१ विद्यासागर—स्वर्गीय पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर । बंगालके प्रसिद्ध विद्वान्, लेखक, शिक्षाप्रचारक और समाजसंशोधक । बहुत दिनों तक आप कलकत्तेके राजकीय संस्कृत कालेजके अध्यक्ष रहे । आपका स्थापित किया मेट्रोपोलिटन इन्स्टिटयूशन नामका कालेज आज तक चल रहा है और सैकड़ों छात्र वहाँ शिक्षा पाते हैं ।

कचहरियोंके लिए उपयोगी नहीं है, पर अचकन और चपकन पर यह दोष नहीं लगाया जासकता है।

साहबाना ठाटवाले कहते हैं कि वह भी तो विदेशी पोशाक है। कहते तो हैं, पर यह केवल उनका हठ है। तात्पर्य यह कि वे चपकनको विदेशी समझकर नहीं छोड़ते हैं, बल्कि साहब बननेकी विशेष लालसाके कारण उसे परित्याग करते हैं।

क्योंकि यदि चपकन और कोट दोनों उनके निकट बराबर ही नये होते और यदि कचहरी जाने और रेलगाड़ीपर चढ़नेके समय इन दोनोंमेंसे एक चुन लेन पड़ता, तो ये सब तर्कवितर्क उठ सकते थे। चपकन तो उनके शरीरहीपर थी, यह तो मानो उनकी पैतृक सम्पत्ति ही थी। उसे छोड़कर जिस दिन उन्होंने काला कोट पहनकर गलेमें नेकटाई बाँधी उस दिन उन्होंने आनन्द और बड़प्पनमें फूलकर इस प्रकारका तर्क मनमें नहीं उठाया कि पिताने उस चपकनको कहाँसे पाया था।

तर्क उठाना भी तो सहज नहीं है, क्योंकि चपकनका इतिहास ठीक ठीक न वे ही जानते हैं, न मैं ही। इसका कारण यह है कि मुसलमानोंके साथ रहन सहन, वसन भूषण, साहित्य आदि विषयोंमें हमारा इतना लेन देन हो गया है कि इस बातका निर्णय करना कठिन है कि उनमें कितना हमारा और कितना उनका है। चपकन हिन्दू मुसलमान दोनोंकी खिचड़ी है। चपकनने जिन जिन रूपोंको धारणकर वर्त्तमान रूप धारण किया है, उनमें हिन्दू मुसलमान दोनोंने सहायता की है। आज भी पश्चिमके भिन्न भिन्न राज्योंमें विचित्र विचित्र चपकनें देखनेमें आती हैं। जिसतरह हमारा भारतवर्षीय संगीत

मुसलमानोंका भी है और हिन्दुओंका भी, उसमें दोनों जातिके गुणियोंका हाथ है, जिसतरह मुसलमान राज्यप्रणालीमें हिन्दू मुसलमान दोनोंकी स्वाधीन एकता थी, उसीतरह चपकनोंकी विचित्रता केवल मुसलमानोंकी ही की हुई नहीं है बल्कि हिन्दुओंकी भी है।

ऐसा होना अवश्यम्भावी था। क्योंकि मुसलमान भारतवर्षके निवासी थे। उनके शिल्पविलास और नीतिपद्धतिके आदर्श भारतवर्षसे अलग रह कर अपनी आदिमताकी रक्षा नहीं करते थे और मुसलमानोंने जिस तरह बलसे भारतवर्षको अपना बना लिया था उसीतरह भारतवर्षने भी स्वाभाविक नियमके अनुसार अपनी विपुलता और निगूढ़ प्राणशक्तिसे मुसलमानोंको अपना कर लिया था। चित्रकारी, सूचीशिल्प, दस्तकारी, कपड़े बुनना, मूर्त्ति गढ़ना, धातुकी चीजें बनाना, दाँतके काम, नाचना गाना और राजकाज,—इनमेंसे एक भी मुसलमानोंके अमलमें केवल हिन्दू या मुसलमानका किया नहीं है, दोनोंने साथ बैठकर किया है। उस समय भारतवर्षका जो बाहरी परदा बन रहा था उसमें हिन्दू और मुसलमान भारतवर्षके दहने और बायें हाथ होकर ताने बाने बुन रहे थे।

इसलिए जो चपकनको ज़बरदस्ती मुसलमानी कपड़ा साबित करना चाहते हैं उनसे सिर्फ़ यही कहना पड़ता है कि जब तुम इतने जबरदस्त हो तब सबूतकी कोई ज़रूरत नहीं, तुम मज़ेमें कोट पतलून डाटो और हम अपने मनका दुःख चुपचाप मनमें ही रक्खें।

इस समय यदि भारतवर्षीय जातिके नामसे कोई जाति तैयार हो जाय तो उसमेंसे मुसलमान किसी तरह हटाये नहीं जा सकते हैं। यदि विधाताकी कृपासे किसी दिन, हज़ारों फूट बैरोंके रहते भी, हिंदू

लोग एक हो सकें तो हिन्दुओंके साथ मुसलमानोंका एक हो जाना विचित्र न होगा। हिन्दू मुसलमान धर्ममें चाहे न भी मिल सकें, पर राष्ट्-बन्धनमें मिल जायँगे। हमारी शिक्षा, हमारी चेष्टा और हमारा महत् स्वार्थ सदा उसी ओर हमें खेंच रहा है। इसलिए जो वेश हमारा राष्ट्रीय वेश होगा वह हिन्दू-मुसलमान दोनोंका होगा।

यदि यह बात सच हो कि चपकन पाजामा केवल मुसलमानोंकी ही निकाली हुई पोशाक है, तोभी जब यह बात याद आती है कि राजपूत वीरोंने और शिख सरदारोंने भी यही पोशाक पहनी है, राणा प्रतापने और रणजीतसिंहने इसी चपकन और पाजामेको पहनकर उन्हें धन्य किया है तब मिस्टर घोष, बोस, मित्र, चटर्जी, बनर्जी, मुखर्जी आदिके चपकन पाजामा पहननेमें लज्जाका कोई कारण नहीं मालूम होता है।

पर सबसे ज़बरदस्त बात यह है कि चपकन पाजामा देखनेमें बहुत भद्दा है। जब इस भद्देपन पर तर्क आकर ठहरता है तब चुपचाप रह जाना ही अच्छा है, क्योंकि रुचिविषयक तर्ककी मीमांसा अन्तमें प्रायः बाहुबलसे ही होती है।

प्राच्य और प्रतीच्य ।

जब मैं युरप गया तब वहाँ देखा कि जहाज चल रहा है, गाड़ी चल रही है, लोग चल रहे हैं, दूकान चलती है, थियेटर और पार्लामेण्टके काम चल रहे हैं—मतलब यह है कि सभी चल रहे हैं। छोटे बड़े सब विषयोंमें लोग दिन रात जीजानसे लगे हुए हैं और मनुष्यकी क्षमताकी चरम सीमा पर पहुँचनेके लिए अविश्रान्त रूपसे एक साथ दौड़ रहे हैं।

यह देखकर मेरी भारतवर्षीय प्रकृति क्लिष्ट हो गई और साथ ही आश्चर्यपूर्वक बोली——बस ये ही राजाकी जाति हैं! हमारे लिए जो यथेष्टसे भी बहुत अधिक है उनके लिए वह अकिंचन दरिद्रता है। इनके अति सामान्य सुभीतेके लिए भी इनके, क्षणिक आमोदके लिए भी, मनुष्यकी शक्ति सिरतोड़ परिश्रम कर मर रही है।

जहाजमें बैठा बैठा मैं सोचता था कि यह जहाज दिनरात अपनी लोहेकी छाती फैलाकर चल रहा है। इसकी छत पर कुछ स्त्रीपुरुष विश्राम कर रहे हैं और कुछ खेलकूदमें लगे हैं; किन्तु इसके गुप्त पेटमें जहाँ अनन्त अग्निकुंड जल रहा है, जहाँ कोयलेसे काले निरपराध नारकीगण हर घड़ी जीवनको जला जला कर छोटा कर रहे हैं, वहाँ कैसी असह्य चेष्टा, कैसा दुःसाध्य परिश्रम और मनुष्यजीवनका कैसी निर्दयताके साथ, व्यर्थ सत्यानाश हो रहा है। पर क्या किया जाय? हमारे मानवराज चले हैं; वे कहीं भी ठहरना नहीं चाहते; व्यर्थ समय बिताने या पथके कष्ट सहनेमें वे असम्मत हैं।

उनके लिए लगातार कल चला कर लम्बी राह कम करना ही यथेष्ट नहीं है, बल्कि वे महलमें जिस ऐश या आरामसे रहते हैं, राहमें भी उसमें कुछ फ़र्क़ न पड़े यह भी वे चाहते हैं। सेवा टहलके लिए सैकड़ों नौकर सदा लगे हैं, खानेके घर, गाने बजानेके घर, खूब सजे हैं; उनपर सोनेके काम हैं, संगमर्मर जड़े हैं और बिजलीकी सैकड़ों बत्तियाँ जल रही हैं। भोजनके समय चर्व्य, चोष्य, लेह्य और पेय वस्तुओंकी कोई सीमा नहीं है। जहाजको साफ़ सुथरा रखनेके लिए न जानें कितने क़ायदे और कितना बन्दोबस्त हैं; जहाजका हरएक रस्सातक जहाँका तहाँ अच्छी तरह लपेट कर रखनेके लिए कैसी चौकसी रहती है।

जहाजमें जैसी तैयारियाँ हैं रास्तेमें, घाटमें, दूकानमें, नाटकघरमें, घरमें, जहाँ देखो वहाँ, वैसी ही तैयारी देख पड़ती है। दशों दिशाओंमें महामहिम मनुष्यकी प्रत्येक इन्द्रियकी षोड़शोपचार पूजा होती है। जिसमें वे घड़ीभरके लिए सन्तुष्ट हों उसके लिए सालभर तक उपाय होता है।

ऐसे अतिशय चेष्टा द्वारा चालित सभ्यता-यन्त्रको हमारा द्वन्द्व देशीय स्वभाव यन्त्रणा समझता है। यदि देशमें एक यथेच्छाचारी विलासी राजा हो तो उसके विलासकी सामग्री एकत्र करनेमें अनेक अधमोंको प्राण देने पड़ते हैं। किन्तु जब सैकड़ों हजारों राजा हों तब तो मनुष्यको नितान्त दुर्वह भारसे पीड़ित होना पड़ेगा। कविवर हूड[१] (Hood) रचित सॉंग ऑफ़ दि शर्ट (Song of The Shirt) नामक काव्य वैसे ही दुःखित मानवके विलापका संगीत है।

१ एक अँगरेज़ कवि।

बहुत सम्भव है कि किसी दुर्दान्त राजाके शासनके समयमें इजिप्ट (मिसर देश) के पिरामिड (Pyramid) बने हों, जिनके बनानेमें कितने ही पत्थर लगे हैं और कितने ही अभागोंके जीवनका बलिदान हुआ है । आजकलकी परम सुन्दर अभ्रभेदी सभ्यताको देखकर मनमें यही विचार आता है कि यह भी ऊपर और नीचे पत्थर और उनके बीचमें मनुष्य-जीवन रखकर गठित हो रही है। यह कार्य बेढब बड़ा है, इसकी कारीगरी भी अनूठी है और खर्च भी अन्धाधुन्ध है। यह बाहरके लोगोंको दिखाई नहीं पड़ता, पर प्रकृति-देवीके खातेमें इसका हिसाब बराबर लिखा जारहा है। प्रकृतिके नियमके अनुसार इसका बदला अवश्य मिलेगा । यदि रुपयेकी बहुत हिफ़ाजत की जाय और पैसे बेपरवाहीसे फेंके जायँ तो वे फेंके हुए ताँबेके टुकड़े ही बहुत हिफ़ाजतसे रखे हुए उजले रुपयोंको धीरे धीरे खा जायँगे।

स्मरण होता है कि युरपके किसी बड़े आदमीने यह भविष्यद्वाणी प्रचारित की है कि किसी समय हब्शी लोग युरपको जीत लेंगे । आफ्रिकासे कृष्ण अमावस आकर युरपके शुभ्र दिवालोकको ग्रास कर लेगी। भगवानसे प्रार्थना है कि ऐसा न हो, पर इसमें आश्चर्य क्या है? क्योंकि आलोकमें निर्भयता है, उसपर हजारों आँखें हैं। किन्तु जहाँ अन्धकार इकट्ठा होता है, विपद वहीं बैठ कर चुपचाप बल बढ़ाती है और वहीं प्रलयकी तिमिरावृत जन्मभूमि है। जब मानव-नवाबकी नवाबी लगातार असह्य होती जायगी, तब दारिद्र्यके अपरिचित अन्धकाररूपी ईशानकोणसे तूफान उठनेकी सम्भावना है ।

१ एक प्रकारकी बड़ी इमारतें जिनमें मिसरके राजाओंके मृत शरीर संरक्षित होते थे। इनका आकार शंकुकी तरह है।

इसके साथ और एक बात याद आती है। यद्यपि विदेशीय समाजके विषयमें कोई बात निस्सन्देह होकर कहना धृष्टता है, तथापि बाहरसे जहाँतक जाना जाता है उससे मालूम होता है कि युरपमें सभ्यता-जितनी आगे बढ़ रही है स्त्रियाँ उतनी ही अधिक दुःखी हो रही हैं।

स्त्रियाँ समाजकी केन्द्रानुग (Centripetal) शक्ति हैं। सभ्यता-की केन्द्रातिग (Centrifugal) शक्ति समाजको जितना बाहरकी ओर फेंक रही है केन्द्रानुग शक्ति उसे उतना ही भीतरकी ओर खेंच लानेमें असमर्थ हो रही है। पुरुष देश और विदेशमें चारों ओर फैल गये हैं और ज्यों ज्यों अभावका आधिक्य हो रहा है त्यों त्यों वे जीविका-युद्धमें अधिकाधिक नियुक्त हो रहे हैं। सिपाही भारी बोझ लेकर नहीं लड़ सकते, पथिक अधिक भार लेकर नहीं चल सकते, युरपमें पुरुष परिवारका भार सहज ही ग्रहण करनेमें सम्मत नहीं होते हैं। स्त्रियोंका राज्य धीरे धीरे ऊजड़ हो चला है। कुमारियाँ वरकी ताकमें बहुतदिनों तक बैठी रह जाती हैं, स्वामी रोजी रोजगार काम-धन्धेके लिए चल देते हैं, लड़के सयाने होने पर पराये हो जाते हैं। घोर जीविका-युद्धमें स्त्रियोंको भी अकेली जाना ज़रूरी हुआ है, परन्तु उनकी पुरानी शिक्षा, स्वभाव और समाज-नियम उनकी प्रति-कूलता कर रहे हैं।

युरपमें स्त्रियाँ पुरुषोंके समान अधिकार पानेके लिए जो चेष्टा कर रही हैं, इसका कारण समाजका सामञ्जस्य नाश करना ही ज्ञात होता है। नौर्वे (Norway) के प्रसिद्ध नाटककार इबसेनरचित कई सामाजिक नाटकोंके देखनेसे मालूम होता है कि नाट्योक्त अनेक स्त्रियोंको प्रचलित समाजबन्धन अत्यन्त असह्य हो रहा है, किन्तु पुरुष सामाजिक प्रथाके पक्षमें हैं। इस प्रकार विपरीत आचरणको देखकर

मैं सोचने लगा कि वर्त्तमान युरोपीय समाजमें वस्तुतः स्त्रियोंकी अवस्था नितान्त असंगत है। पुरुष उन्हें न गृहकार्य करने देंगे और न कर्मक्षेत्रमें प्रवेश करनेका पूर्ण अधिकार देंगे। रूस देशके निहिलिष्ट (Nihilist) * सम्प्रदायमें स्त्रियोंकी वहुत अधिक संख्या देख पहले तो आश्चर्य सा बोध होता है, पर पीछे विचार कर देखने-से ज्ञात होता है कि युरपमें स्त्रियोंके प्रलयमूर्त्तिधारणका समय प्रायः आगया है।

सारांश यह कि युरोपीय सभ्यताके सभी विषयोंमें प्रवलताकी इतनी आवश्यकता हो गई है कि असमर्थ पुरुष या अबला स्त्रियाँ,—इन दोनोंके आश्रयका, उस समाजमें, क्रमशः लोप हुआ जारहा है। अब केवल कार्य, शक्ति और गतिकी आवश्यकता है। जो दया और प्रेमके आदान प्रदानके पात्र हैं उनका तो मानों अब कुछ अधिकार ही नहीं रहा। इसी कारण स्त्रियाँ अपने स्वभावके लिए लज्जित जान पड़ती हैं। वे अच्छी तरह यह प्रमाणित करनेकी चेष्टा कर रही हैं कि हममें केवल हृदय ही नहीं है बल्कि बल भी है। इस लिए हम मुओंसे क्यों डरने लगीं? हाय उसी प्रकार अँगरेज़शासित हम बंगाली भी कहते हैं, "हमारे इन कोमल हाथोंमें क्या बल नहीं है?"

बस यही तो दशा है। पर जब युरपमें हमारे यहाँकी स्त्रियोंकी दुरवस्थाका उल्लेख कर मूसलधार अश्रुवर्षण होता है तब मनमें दुःख होता है कि इतनी करुणा क्यों व्यर्थ नष्ट की जाती है। अँगरेजोंके

---

* एक सम्प्रदाय जिसका मुख्य उद्देश्य है कि पृथिवीमें, अमीर-गरीब, ऊँच नीच, राजा प्रजा आदि कोई प्रभेद न रहे। इस उद्देश्यके साधनके लिए ये लोग प्रायः बड़े आदमियोंका, विशेषकर राजाओंका, खून किया करते हैं।

समाज–

देशमें मैंने बहुतसे आईन और बहुतसी अदालतें देखी हैं। हमारे देशमें जितने चोर हैं पहरेवालोंकी संख्या उनसे कहीं अधिक है। सुनियम और सुशृंखलाके विषयमें कुछ कहना नहीं है। अँगरेज़ हमारे सारे देशको झाड़ पोंछकर, धोकर, निचोड़कर, तह लगाकर, इस्त्रीकर अपने बक्समें बन्दकर, उसे खूब दबाकर बैठे हुए हैं। हम अँगरेज़ोंकी सतर्कता, सचेष्टता, प्रखर बुद्धिमत्ता और सुशृंखलकर्मपटुताका बहुत परिचय पाते हैं और यदि किसी वस्तुका अभावसा अनुभव करते हैं तो वह स्वर्गीय करुणाका और निरुपायोंपर क्षमताशालियोंके अवज्ञा-रहित अनुकूल प्रसन्न भावका अभाव है। हमें उपकारके तो बहुत दर्शन होते हैं, पर दया कभी दृष्टिगोचर नहीं होती है। अतएव जब करुणाका अपव्यय अस्थानमें देखते हैं तब मानसिक कष्टकी सीमा नहीं रहती।

हम तो देखते हैं कि हमारे देशकी स्त्रियोंने अपने कोमल हाथोंमें दो कङ्कण पहनकर और माँगमें सिन्दूर भरकर सदा प्रसन्नमुखसे स्नेह, प्रेम और करुणा वितरणकर हमारे गृहोंको रमणीय बना रक्खा है। कभी अभिमानके आँसुओंसे उनकी आँखें भर जाती हैं और कभी प्रेमके गुरुतर अत्याचारसे उनकी सरल सुन्दर मुखश्री धीर गम्भीर और सकरुण विषादसे मलिन हो जाती है। किन्तु स्त्रियोंके दुर्भाग्यसे दुश्चरित्र स्वामी और अकृतज्ञ सन्तान पृथिवीमें सर्वत्र ही हैं और विश्वस्तसूत्रसे यह जाना जाता है कि इँग्लैण्डमें भी इनका अभाव नहीं है। खैर जो हो, हम तो अपनी गृहलक्ष्मियोंके साथ सुखसे हैं और वे दुःखमें रहनेकी कभी चर्चा तक भी नहीं करती हैं। तब उनके लिए हजारों कोस दूरके लोगोंके हृदय क्यों व्यथित और विदीर्ण हो रहे हैं?

मनुष्य आपसके सुख दुःखके विषयमें स्वभावसे ही सदा भूल किया करते हैं। यदि मछलियाँ सभ्यताके उत्तरोत्तर विकाशसे मनुष्योंकी हितचिन्तक हो जायँ तो जबतक वे समस्त मनुष्य जातिको सेबारसे भरे गहरे तालाबमें न डबो दें तबतक उनके करुण हृदयकी उत्कण्ठा क्या दूर हो सकती है ? तुम बाहर सुखी हो और हम घरमें सुखी हैं। हम अपना सुख तुमको कैसे समझावें ?

जब लेडी डफरिन अस्पताल[1]की कोई स्त्री डाक्टर हमारे अन्तःपुरमें प्रवेश कर छोटीसी मैली कोठरी, छोटी छोटी खिड़कियाँ, मैले बिछौने, मिट्टीका दिया, रस्सीसे बँधीहुई मुशहरी, आर्ट स्टुडियों[2]की रंगसे लिपी तसवीरें, दीवारमें दियेका काजल और बहुत आदमियोंके हाथोंके पुराने मैले चिह्न देखती है तब वह सोचती है कि—हाय ! कैसा घोर कष्टमय इनका जीवन है, इनके पुरुष कैसे स्वार्थी हैं, स्त्रियोंको जानवरोंकी तरह रखते हैं। वह नहीं जानती कि स्त्रियोंकी ही नहीं हमारी भी यही दशा है। हम मिल, स्पेन्सर, रस्किन[3]की पुस्तकें पढ़ते हैं, ऑफिसोंमें काम करते हैं, अखबार लिखते हैं, पुस्तकें छपाते हैं, मिट्टीके दिये जलाते हैं, चटाई पर बैठते हैं, यदि अवस्था कुछ अच्छी हुई तो अपनी अभिमानिनी गृहिणीके लिए गहने गढ़वा देते हैं और रस्सीसे बँधी हुई मोटी मुशहरीमें हम और हमारी स्त्री बीचमें नन्हेंसे बच्चेको लेकर ताड़का पंखा हिलाते हुए रात बिताते हैं।

किन्तु आश्चर्य यही है कि इतना होनेपर भी हम नितान्त अधम नहीं हैं। हमारे पास कोच, कार्पेट, कुर्सियाँ नहीं हैं; तो भी

---

१ कलकत्तेका स्त्रियोंका एक अस्पताल। २ यहाँ चित्र आदि बनते हैं। ३ प्रसिद्ध अँगरेज़ लेखक और दार्शनिक।

हममें दया मया और प्रेम है। यद्यपि तख्तपोश पर अधलेटे एक हाथसे तकियेको बगलमें दबाकर तुम्हारा साहित्य पढ़ते हैं तो भी उसे बहुत कुछ समझ लेते हैं और सुख पाते हैं। टूटे फूटे चिरागमें नंगे बदन तुम्हारी फ़िलॉसफ़ी पढ़ा करते हैं, तो भी उससे इतनी ज्यादे रोशनी पाते हैं कि जिससे हमारे लड़के भी बहुत कुछ तुम्हारी तरह विश्वासहीन हुए जाते हैं।

इधर हम भी तुम्हारा भाव नहीं समझ सके हैं। तुम कोच कुर्सियें और खेलकूदको इतना पसन्द करते हो कि बालबच्चे न होनेपर भी तुम्हारी मजेमें गुज़रती है। तुम आरामको आगे रखते हो और प्रेमको पीछे हमारे यहाँ प्रेम अत्यन्त ही आवश्यक है, उसके बाद जीजानसे कोशिश करने पर भी इस जिन्दगीमें आरामका बन्दोबस्त किसी तरह भी नहीं हो सकता।

अतएव हम जब कहते हैं कि आध्यात्मिकता पर लक्ष्य रखकर पारलौकिक मुक्तिके लिए हम विवाह करते हैं तब यह बात यद्यपि सुननेमें बहुत बड़ीसी मालूम होती है पर तो भी यह केवल कहनेकी बात है और इसका प्रमाण संग्रह करनेके लिए हमें वर्त्तमान समाजको छोड़ पुराने पोथीपत्रोंमें डूब बड़ी गवेषणा करनी पड़ती है। सच तो यह है कि उसके बिना हमारा काम नहीं चलता—हम रह भी नहीं सकते। हम सूँसकी तरह कर्मतरङ्गमें कलाबाजी करते हुए घूमते हैं किन्तु चटपट जबतब घरके अन्दर जा दम लिये बिना नहीं रह सकते हैं। जिसके मनमें जो आवे सो कहे पर हमारा विवाह पारलौकिक सद्गतिके लिए नहीं है।

ऐसी दशामें हमारी समाजकी भलाई होती है या बुराई इसका विचार यहाँ नहीं है। इस विषय पर बहुत वादविवाद हो चुका है

अभी बात यह है कि हमारी स्त्रियाँ सुखी हैं या दुःखी। मैं समझता हूँ कि हमारी समाजकी जैसी बनावट है उससे समाजकी भलाई बुराई चाहे जो हो, पर हमारी स्त्रियाँ एक तरहसे मज़ेमें हैं। अँगरेज़ सोच सकते हैं कि लौन टेनिस[1] (Lawn Tennis) खेले बिना और बाल[2] (Ball) में नाचे बिना स्त्रियाँ सुखी नहीं हो सकतीं, पर हमारे देशके लोगोंका विश्वास है कि प्यार करके प्यार पानेमें ही स्त्रियोंका सच्चा सुख है। हाँ, यह हमारा एक प्रकारका कुसंस्कार भी हो सकता है।

हमारे परिवारमें नारी-हृदय जैसे विचित्र भावसे चरितार्थ होते हैं अँगरेज़ोंके परिवारमें वैसे होना असम्भव है। इसीसे मेमोंके लिए सदा कुमारी रहना दारुण दुर्भाग्यकी बात है। उनका शून्य हृदय क्रमशः नीरस हो जाता है; वे केवल पिल्लोंको पालती हैं और साधारणके हितके लिए सभाएँ चलानेमें अपनेको लगाये रखनेकी चेष्टा करती हैं। जैसे मृतवत्सा प्रसूतिके जमे हुए दूधको कृत्रिम उपायसे निकाल देना उसके स्वास्थ्यके लिए आवश्यक है वैसे ही युरपकी चिरकुमारी नारियोंके हृदयमें जमे स्नेह-रसको नाना प्रकारके कौशलसे व्यर्थ बहाना पड़ता है। किन्तु इससे उनकी आत्माकी यथार्थ तृप्ति नहीं हो सकती है।

मैं समझता हूँ कि अँगरेज़ोंकी कुमारी-वृद्धाओं (Old Maid) के साथ हमारी बालविधवाओंकी तुलना करना शायद अनुचित नहीं है। गिनतीमें हमारी बालविधवाएँ इन कुमारी-वृद्धाओंकी बराबर ही

१ एक प्रकारका खेल जो अँगरेजोंमें बहुत प्रचलित है। २ एक प्रकारका नृत्य जो अँगरेजोंमें प्रचलित है।

होंगी या कुछ कमबेश। यद्यपि बाहरसे हमारी बालविधवाएँ और युरपकी सदा–कुमारियाँ एकसी हैं, तथापि इन दोनोंमें एक प्रधान विषयमें अन्तर है। हमारी विधवाओंकी नारी-प्रकृति कभी शुष्क और शून्य रह कर बंजर होनेका अवसर नहीं पाती है। उसकी गोद कभी सूनी नहीं रहती, हाथ कभी निकम्मे नहीं होते और हृदय कभी उदास नहीं रहता है। वे कभी माता, कभी कन्या और कभी सखी बनी रहती हैं। इसीसे वे जीवनभर कोमल, सरस, स्नेहशील और सेवामें तत्पर रहती हैं। घरके बच्चे उन्हींकी नज़रोंके सामने जन्म-ग्रहण करते हैं और उन्हींकी गोदमें बड़े होते हैं। घरकी और और स्त्रियोंसे उनका बहुत दिनोंका सुख दुःखका साथ है; घरके पुरुषोंके साथ उनका प्रेम, भक्ति और परिहासका विचित्र सम्बन्ध होता है; जो गृहकार्यका भार स्त्रियाँ स्वभावसे ही पसन्द करती हैं उसकी भी उन्हें कमी नहीं रहती है और इसी बीचमें रामायण, महाभारत तथा पुराण पढ़ने सुननेका समय भी रहता है और साँझको छोटे छोटे बच्चोंको गोदमें लेकर कहानियाँ कहनी भी स्नेहका काम है। वल्कि विवाहित स्त्रियोंको तो बिल्लीका बच्चा और मैना पालनेकी प्रवृत्ति तथा समय भी रहता है पर विधवाओंके हृदयमें इतनेके लिए भी स्थान प्रायः नहीं देखा जाता।

इन सब कारणोंसे हमारे मनमें यह खयाल भी नहीं होता है कि हमारी अन्तःपुरवासिनी स्त्रियाँ तुम्हारी उन स्त्रियोंकी अपेक्षा दुःखी हैं जो दिनरात प्रमोदके भँवरमें चक्कर खा रही हैं या पुरुषोंके साथ प्रतियोगितामें प्रवृत्त हैं या दो एक पिल्लोंको ले, चार पाँच सभाओंसे सम्बन्ध कर, अकेली कुमारीपन या विधवापन भोग रही हैं। जैसे मरुभूमिमें गृहस्थोंके लिए अल्प स्वाधीनता भीषण शून्य है वैसे ही

प्रेमरहित बन्धनविहीन शून्य स्वाधीनता स्त्रियोंके लिए अत्यन्त भयानक है।

हम चाहे जो हों, हमारी गृहस्थोंकी जाति है। अतएव विचार कर देखनेसे मालूम होता है कि हम अपनी स्त्रियोंके ही द्वारके अतिथि हैं। वे ही हमें सदा बहुत यत्न और आदरसे रखती हैं। उन्होंने हम पर ऐसा अधिकार जमा लिया है कि हम घर छोड़कर, देश छोड़कर दो दिन भी नहीं ठहर सकते हैं। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि इससे हमारी बड़ी हानि होती है, पर इससे हमारी स्त्रियाँ दुःखी नहीं होती हैं।

मेरे कहनेका यह अभिप्राय नहीं है कि हमारी समाजमें स्त्रियोंको कुछ भी करना नहीं है, या हमारी समाज सबसे श्रेष्ठ सब गुणोंसे पूर्ण है और हमारी स्त्रियोंकी अवस्था इसका प्रमाण है। हमारी स्त्रियोंमें शिक्षारूपी अङ्गकी अभी कमी है और हम उनके शारीरिक और मानसिक सुखसाधनकी बहुधा उपेक्षा करते हैं और उसे उपहासका विषय समझते हैं। यहाँतक कि हमारे देशके परिहास-प्रिय रसिकगण स्त्रियोंको गाड़ीमें चढ़ाकर स्वास्थ्यकर वायुसेवन कराना भी परम-हास्यरसका विषय समझते हैं; तौ भी यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि हमारी स्त्रियाँ और कन्यायें सदा विभीषिकाके राज्यमें नहीं रहती हैं और वे सुखी हैं।

उनकी मानसिक शिक्षाके विषयमें कुछ कहनेसे प्रश्न उठता है कि हम पुरुष ही क्या अत्यधिक शिक्षित हैं? हम क्या एक तरहके कच्चे पक्के, उलटे सीधे, बेमेल पदार्थोंके अद्भुत नमूने नहीं है? हमारी आलोचनाशक्ति, विचारशक्ति और धारणाशक्तिने क्या पुष्ट, स्वाभाविक और उदार परिपकता लाभ की है? हम क्या सदा गवेषणाके साथ असत्य कल्पनाको नहीं मिला देते और अन्धसंस्कारने क्या हमारे

'युक्तिराज्य' के आधे सिंहासनपर अटल और दाम्भिकरूपसे अपना अधिकार नहीं जमा रक्खा है? ऐसी दुर्वल शिक्षा और दुर्बल चरित्रके कारण हमारे विश्वास और कार्यमें क्या एक अद्भुत असङ्गति सदा नहीं देखी जाती है? हम बंगालियोंके विचार, मत और अनुष्ठानमें क्या एक प्रकारका शृंखला और संयमहीन विषम भाव लिपटा हुआ नहीं देखा जाता है?

हमने न सुशिक्षितोंकी तरह देखना सीखा है, न सोचना और न काम करना। इससे हमारे किसी काममें स्थिरता नहीं है—हम जो कहते या करते हैं वे सब खेलसे माह्रम होते हैं, सब अकाल कुसुमकी भाँति झड़कर मिट्टीमें मिल जाते हैं। इसी लिए हमारी प्रबन्ध-रचना डिबेटिंग क्लब (आलोचनासमिति) के 'एसे' (प्रबन्ध) की तरह होती है; हमारा मतामत सूक्ष्म तर्ककी चतुरता दिखानेके लिए है, जीवनके व्यवहारके लिए नहीं; हमारी बुद्धि कुशाग्रसी तीक्ष्ण है पर उसमें अस्त्र सा बल नहीं है। यदि हमारी ही यह दशा है तो हमारी स्त्रियोंकी शिक्षा कहाँ तक होगी! स्त्रियोंने स्वभावसे ही समाजके जिस भीतरी स्थानको अधिकार कर रक्खा है वहाँ उनके निकट प्रभाव पहुँचनेके लिए कुछ समय चाहिए। युरपकी स्त्रियोंकी दशाकी आलोचना करनेसे भी यही बात पाई जाती है। इसलिए हमारे पुरुषोंकी शिक्षाका फल पानेके पहले ही यदि हम अपनी अधिकांश स्त्रियोंकी शिक्षाकी सम्पूर्णता प्रत्याशा करें तो यह ठीक वैसा ही होगा जैसा जड़पर पाँव रक्खे बिना ही वृक्षके सिरेपर चढ़नेकी चेष्टा।

हाँ, यह अवश्य ही कहना पड़ता है कि अशिक्षित रहनेसे अँगरेज स्त्रियोंका स्वभाव जितना कच्चा रहता है हमारे भरे पूरे घरके प्रतापसे हमारी स्त्रियोंकी जीवन-शिक्षा उससे अधिक पक जाती है।

किन्तु इस बड़ी गृहस्थीके भारसे हमारी जातिकी और वृद्धि नहीं हो सकी। गृहस्थाश्रम उत्तरोत्तर इतना विशाल हो गया है कि अपने घरके कामोंको छोड़ और कामोंके लिए किसीमें कुछ भी शक्ति नहीं रह जाती है। बहुतोंके एकत्र जड़ीभूत हो जानेसे सबकी शक्ति समान भावसे न्यून हो जाती है, समाज अति सघन बनकी तरह हो जाती है और उसके सहस्रों बाधा-बन्धनोंके ऊपर किसीका सिर उठाना बहुत ही कठिन हो जाता है।

इस घनिष्ट परिवारके बन्धनमें पड़नेसे यहाँ न राष्ट्र बनता है, न देश बनता है और न विश्वविजयी मनुष्यताकी ही वृद्धि होती है। माता पिता होते हैं, पुत्र होते हैं, भाई होते हैं, स्त्री होती है और इस दृढ समाजशक्तिकी प्रतिक्रियाके कारण बहुतेरे बैरागी और संन्यासी भी हो जाते हैं, पर इस बृहत् संसारके लिए कोई भी जन्म नहीं लेता है; हम परिवारको ही संसार कहते हैं।

पर युरपमें तो और ही लीला देखी जाती है। युरपवालोंका गृह-बन्धन हमारे गृहबन्धनकी अपेक्षा अधिक शिथिल होनेसे उनमेंसे बहुतसे लोग जैसे एक ओर अपनी सारी शक्ति स्वजाति या मनुष्य-जातिकी भलाईके लिए प्रयोग करनेमें समर्थ हुए हैं, वैसे ही दूसरी ओर बहुतेरे पुरुष संसारमें केवल अपने ही लालन पालन पोषणका सुयोग और सुअवसर पाते हैं; एक ओर जिस प्रकार बन्धन-रहित परहित-कामना है, दूसरी ओर वैसे ही बाधाविहीन स्वार्थपरता है। हमारा परिवार जिस प्रकार प्रतिवर्ष बढ़ता है वैसे ही उनका आराम बढ़ता है। हम कहते हैं कि जबतक विवाह नहीं होता तबतक पुरुष अर्द्धाङ्ग रहता है; अँगरेज़ कहते हैं कि जबतक कोई क्लब नहीं मिलता तब-तक पुरुष अधूरा रहता है; हम कहते हैं कि घर यदि सन्तानोंसे

भरा न हो तो वह श्मशानके समान है, अँगरेज़ कहते हैं कि अस-वाबकी कमीसे घर मसानके समान है।

समाजमें यदि इस बाहरी सम्पत्तिको एकबार भी आवश्यकतासे अधिक प्रश्रय दिया जाय तो वह इतना अधिकार जमा लेती है कि फिर उसके पंजेसे सहजमें छुटकारा नहीं होता है। फिर वह धीरे धीरे गुणका तिरस्कार करने लगती है और महत्त्व पर अपना कृपा-कटाक्ष निक्षेप करना आरम्भ करती है। आजकल यहाँ भी इसके अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। यदि कोई मनुष्य अपनी डाक्टरी चलानी चाहे तो उसे सबसे पहले गाड़ी घोड़े और अच्छे घरकी ज़रूरत होगी; इसी कारण बहुधा नये डाक्टर रोगीको मारनेके पहले आप ही मरने लगते हैं। पर हमारे वैद्यराज यदि चट्टी पहन और चादर ओढ़-कर पालकीमें ही अपने रोगियोंके घर आवें जायँ तो उनकी 'वैदई' चलनेमें कुछ भी बाधा नहीं पहुँचती है। किन्तु यदि एक बार भी वे गाड़ी घोड़े और घड़ी चेनके फेरमें पड़ जायँ तो उनके चरक सुश्रुत और धन्वन्तरिकी भी सामर्थ्य नहीं कि उनके हाथसे उन्हें छुड़ा सकें। इन्द्रियोंके लगावसे मनुष्योंका जड़ पदार्थोंके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, यही सुयोग पाकर वे सदा हम पर अधिकार जमा सकते हैं। इसीसे प्रतिमा पहले निदर्शनके बहानेसे मन्दिरमें प्रवेश करती है और पीछे स्वयं ही देवता बन बैठती है। ऐश्वर्य गुणका बाहरी निदर्शन सा दिखाई देता है, किन्तु अन्तमें बाह्याडम्बर किये बिना गुणका फिर आदर ही नहीं होता है।

वेगवती महानदी स्वयं बालू जमा कर लाती है और अन्तमें अपनी ही राह आप रोकती है। कभी कभी युरपकी सभ्यता भी वैसी ही एक प्रवल नदी मालूम होती है। उसके वेगसे, मनुष्यके लिए जो सामान्य

आवश्यक वस्तुएँ हैं वे भी चारों ओरसे इकट्ठी हो ढेर लगा रही हैं। सभ्यताकी साल सालकी आवर्जना (जञ्जाल) पर्वताकार हो रही हैं और हमारी संकीर्ण नदी क्षीण-स्रोत हो, परिवारके वने सेवारके जालमें फँसकर छुपसी गई है। किन्तु उसमें भी एक प्रकारकी शोभा, सरसता और श्यामलता है। उसमें वेग नहीं है, बल नहीं है, व्याप्ति नहीं है, पर मृदुता है, स्निग्धता है और सहिष्णुता है।

और यदि हमारी आशङ्का सच हो तो हो सकता है कि युरपकी सभ्यता भीतर ही भीतर जड़ताकी विशाल मरुभूमि सृष्टि कर रही है। जो गृह मनुष्योंके प्रेमका एकान्त स्थान है, कल्याणकी निर्झर-भूमि है, पृथिवीका सब कुछ लोप हो जानेपर भी जहाँ थोड़ीसी जगह रहनी मनुष्योंके लिए अत्यन्त आवश्यक है, उस गृहको भी यह अनावश्यक वस्तुओंके ढेरसे भर रही है और हमारे हृदयमें जन्मभूमिकी भावमयी रसमयी आकृति जड़ आवरणोंके कारण क्रमशः भावशून्य और नीरस हो रही है।

जो कुछ हो, मेरे जैसे अपात्र व्यक्तिके लिए युरपकी सभ्यताका परिणाम ढूँढ़ना अदरख-विक्रेताका जहाजका तथ्य ढूँढ़नेकी तरह अनधिकारचर्चा है। हाँ, न डरनेका एक कारण यह है कि मैं जो कुछ भी अनुमान क्यों न करूँ उसके सच या झूठ होनेकी परीक्षामें इतनी देर है कि तब तक मैं यहाँके दण्ड या पुरस्कारके हाथसे निकल कर विस्मृतिके राज्यमें अज्ञातवास करूँगा। इसलिए इन बातोंको, जिसके मनमें जैसा आवे, समझे; मैं उसका जवाबदेह नहीं। किन्तु युरपकी स्त्रियोंके विषयमें मैं जो बातें कह रहा था वे नितान्त अवज्ञा करने योग्य नहीं मालूम होती हैं।

समाज—

जिस देशमें घरबार क्रमशः नष्ट हो रहे हैं और उनके बदले होटलों (Hotel) की वृद्धि हो रही है, जहाँ लोग केवल अपने लिए उपार्जन करते हैं और अपना अपना घर, आरामकुर्सी (Easy chairs), कुत्ते, घोड़े, बन्दूक, चुरुटका नल, और जुआ खेलनेके क्लबको लेकर निर्विघ्न रूपसे अपने आरामकी चेष्टामें लगे रहते हैं, वहाँ निश्चय ही स्त्रियोंका छत्ता टूट गया है। पहले सेवक-मधुमक्खियाँ मधु जमा करती थीं और रानी मधुमक्खियाँ गृह-स्वामिनीका काम करती थीं। पर आज स्वार्थीलोग अपना अपना चक्का भाड़े पर ले, सबेरे मधु संग्रह कर, सन्ध्यातक उसका अकेले निःशेषकर उपभोग करते हैं। इसलिए रानीमक्खियोंको अब घरसे बाहर निकलना पड़ता है; केवल मधुदान और मधुपानका अब समय नहीं रहा। उनकी वर्त्तमान अवस्था अभीतक उनके लिए स्वाभाविक सी नहीं हुई है। इसीसे वे बहुत कुछ असहायभावसे इधर उधर भनभनाती फिरती हैं। हम अपनी महारानियोंके राज्यमें मजेमें हैं और वे भी हमारे अन्तःपुर अर्थात् हमारी पारिवारिक समाजके मर्मस्थानको अधिकार कर, सब लोगोंको ले, सुख चैनसे हैं।

किन्तु अब समाजमें नाना विषयोंमें परिवर्त्तन हो रहा है। देशकी आर्थिक अवस्थामें ऐसा परिवर्त्तन हुआ है कि जीवनयात्रा-प्रणाली स्वयं ही भिन्न आकार धारण कर रही है और उसी सूत्रसे हमारा एकान्नवर्त्ती परिवार कालक्रमसे कुछ विश्लिष्टसा हुआ जान पड़ता है। उसके साथ साथ क्रमशः हमारी स्त्रियोंकी अवस्थामें भी परिवर्त्तन अवश्यक और आवश्यम्भावी हो जायगा। केवल गृह-लुण्ठित, कोमल, हृदयराशि बननेसे उनका काम नहीं चलेगा; उन्हें

अब मेरुदण्डपर भार देकर उन्नत उत्साहीभावसे स्वामीकी पार्श्व-चारिणी होना पड़ेगा ।

अतएव स्त्रीशिक्षाका प्रचार न होनेसे वर्तमान शिक्षित समाजमें स्वामी और स्त्रीका सामञ्जस्य नष्ट होता है । हमारे देशमें विदेशी शिक्षा प्रचलित होनेसे, अँगरेज़ी जाननेवालों और अँगरेज़ी न जान-नेवालोंमें जाति-भेदसा हो रहा है । अतएव अधिकांश स्थलमें ही हमारी वरकन्याओंमें यथार्थ असवर्ण विवाह हो रहा है । एककी चिन्ता, चिन्ता करनेकी भाषा, विश्वास और कार्यसे दूसरेकी चिन्ता, भाषा, आदिमें बड़ा प्रभेद है । इसीसे हमारे वर्त्तमान दाम्पत्य जीव-नमें प्रायः बहुतसे प्रहसन और सम्भवतः बहुतसी ट्रैजेडियाँ[1] (Tra-gedies) भी हुआ करती हैं । स्वामी जहाँ झन्नाटेदार सोडा वाटर माँगता है, स्त्री वहाँ ठण्ढा नारियलका जल ले आती है । इस कारण समाजमें स्त्रीशिक्षा क्रमशः प्रचलित हो रही है,—किसीकी वक्तृतासे नहीं, कर्त्तव्यके ज्ञानसे नहीं, पर आवश्यकताके प्रभावसे ही ।

इसमें सन्देह नहीं कि यही अँगरेज़ी शिक्षा अब बाहर भीतर प्रवेशकर समाजमें अनेक भावान्तर उपस्थित करेगी । किन्तु जो लोग यह आशङ्का करते हैं कि हम इस शिक्षाके प्रभावसे युरपकी सभ्यतामें अपनी प्राच्य-लीला त्याग कर परम पाश्चात्यलोक लाभ करेंगे,—मैं आशा करता हूँ और मेरा विश्वास है कि उनकी यह आशङ्का व्यर्थ होगी ।

कारण, चाहे जैसी ही शिक्षा हम क्यों न पावें, हमारा संपूर्ण रूपान्तर होना असम्भव है । अँगरेज़ी शिक्षा हमें कई भाव ला दे सकती

---

१ दुःखान्त नाटक ।

है पर अपनी सारी अनुकूल अवस्थायें वह नहीं ला सकती। हम अँगरेजी साहित्यको पा सकते हैं पर इँग्लैण्ड (England) कहाँसे पावेंगे। बीज पाया जाता है, पर मिट्टी मिलना ही कठिन है।

दृष्टान्तमें यह दिखलाया जा सकता है कि यद्यपि बाइबल[1] बहुत दिनोंसे युरपका प्रधान शिक्षा-ग्रन्थ है तथापि युरप अपने असहिष्णु, दुर्दान्त भावकी रक्षा करते ही चला आता है, बाइबलकी क्षमा और नम्रता अभीतक उसके हृदयको गला नहीं सकी है।

मुझे तो जान पड़ता है कि युरपके लिए यह एक परम सौभाग्यका विषय है कि वह अपने बालपनसे ही ऐसी शिक्षा पारहा है जो उसकी प्रकृतिकी सम्पूर्ण अनुयायिनी नहीं है। वह उसके सहज स्वभावके निकट नया नया अधिकार ला देती है और सदा संघातके द्वारा उसे महत्त्वकी राह पर सजग रखती है।

यदि युरप केवल अपनी प्रकृतिकी अनुयायिनी शिक्षा पाता तो आज युरपकी ऐसी उन्नति नहीं होती, युरपकी सभ्यतामें ऐसी व्याप्ति नहीं रहती और एक ही उदार-क्षेत्रमें इतने धर्मवीर और कर्मवीर नहीं उत्पन्न होते। ईसाई धर्मने सदा युरपके स्वर्ग और मर्त्य, मन और आत्मामें सामञ्जस्य बना रक्खा है।

ईसाई शिक्षा केवल युरपकी सभ्यतामें भीतर ही भीतर आध्यात्मिक रसका संचार करती है,—बस इतना ही नहीं; बल्कि उसके मानसिक विकाशमें भी उसने कितनी सहायता की है, यह कहना कठिन है। युरपके साहित्यमें इसका प्रमाण मिलता है। बाइबलके साथ साथ प्राच्यभाव और प्राच्य कल्पनाने युरपके हृदयस्थान पर अधिकार जमाकर, वहाँ कितने कवित्व और सौन्दर्यका विकाश

१ कृस्तानों का धर्म—ग्रन्थ।

किया है,—केवल उपदेशके द्वारा नहीं वरन् सम्पूर्ण भिन्नजातियोंके भावोंसे घनिष्ठ संस्रवके द्वारा भी उसके हृदयके सार्वजनीन अधिकारको उसने कितना फैलाया है, उसे आज कौन अलग कर दिखा सकता है?

सौभाग्यसे आज हमें जो शिक्षा मिल रही है वह भी हमारी प्रकृतिसे मेल नहीं खाती है। इसीसे आशा होती है कि इस नवीन शक्तिके समागमसे हम अपनी बहुत समयकी एक भावापन्न जड़ताको त्याग सकेंगे, नवजीवनके हिल्लोलके स्पर्शसे सजीवता लाभकर फिर भी नये फूल पत्तोंसे विकसित हो उठेंगे और हमारा मानसिक राज्य दूर तक विस्तार लाभ कर सकेगा।

कुछ लोग कहते हैं कि युरपका भला युरपहीके लिए भला है और हमारा भला हमारे ही लिए भला है। पर सच्ची भलाइयाँ एक दूसरेकी प्रतियोगिनी नहीं बल्कि सहयोगिनी हैं। अवस्था-भेदसे हममेंसे कोई एकको प्रधानता देता है और कोई दूसरेको; पर मनुष्यके सर्वाङ्गीन हितकी ओर दृष्टि डालनेसे कोई भी दूर नहीं किया जा सकता है। बल्कि सब भलाइयोंमें एक ऐसा पारिवारिक बन्धन है जिससे किसी एकको हटानेसे दूसरा दुर्बल हो जाता है और अंगहीन मनुष्यत्व क्रमशः अपनी गति रोककर संसार-पथके पार्श्वमें एक स्थानमें अपनी स्थिति अवलम्बन करनेको बाध्य होता है और इस निरुपाय स्थितिको ही उन्नतिका चरम परिणाम कहकर अपनेको भुलानेकी चेष्टा करता है।

वृक्ष यदि अचानक बुद्धिमान या अत्यन्त सहृदय हो जाय तो वह मन ही मन तर्क कर सकता है कि मिट्टी ही मेरा जन्मस्थान है, अत-

एव मैं केवल मिट्टीका ही रस खींचकर प्राणधारण करूँगा। आकाश-की धूप और वृष्टि मुझे भुलावा देकर मातृभूमिसे क्रमशः आकाशकी ही ओर ले जा रही है। अतएव हम नवतरु-सम्प्रदायके वृक्ष एक सभा करके निरन्तर चञ्चल और परिवर्त्तनशील धूप, वृष्टि और वायुका संस्पर्श अत्यन्त यत्नपूर्वक त्याग कर अपनी ध्रुव, अटल, सनातन भूमिका ही आश्रय ग्रहण करेंगे।

अथवा वह ऐसा भी तर्क कर सकता है कि भूमि बड़ा ही स्थूल, हेय, निम्नवर्त्ती पदार्थ है। अतएव उसके साथ आत्मीयता न रखकर मैं चातककी तरह केवल मेघकी ओर टकटकी लगाये रहूँगा। इन दोनों तर्कोंसे ज्ञात होता है कि वृक्षके लिए जितनी बुद्धि आवश्यक है उसमें उससे कहीं अधिकका सञ्चार हो गया है।

उसी प्रकार आजकल जो लोग कहते हैं कि हम प्राचीन शास्त्रोंमें बद्धमूल रहकर, बाहरी शिक्षासे बचनेके लिए अपनेको सिरसे पैर तक छुपाकर, बैठे रहेंगे अथवा जो यह कहते हैं कि हठात् शिक्षाके बलसे हम, आतिशबाजीकी तरह, एक मुहूर्त्तमें भारतभूतल परित्याग-कर, सुदूर उन्नतिके ज्योतिष्क लोकमें जा उपस्थित होंगे—ये दोनों ही अनावश्यक कल्पना करके अतिरिक्त बुद्धिकौशल प्रयोग करते हैं।

किन्तु सहजबुद्धिसे स्वभावतः ही ऐसा खयाल होता है कि भारत-वर्षसे जड़ उखाड़ डालनेपर भी हमारा छुटकारा नहीं होगा और जो अँगरेज़ी शिक्षा हमारे चारों ओर नानारूपमें वर्षित और प्रवाहित हो रही है, उसे भी हमें शिरोधार्य करना पड़ेगा। बीचमें दो एक वज्र भी गिर सकते हैं। फिर, केवल वृष्टि ही होगी ऐसी कोई बात नहीं है, कभी कभी शिलावृष्टि होनेकी भी सम्भावना है। पर विमुख

होकर जायँगे कहाँ ? इसके सिवा यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस नवीन वर्षाकी वारिधारा हमारी उस प्राचीन भूमिमें नवजीवनका सञ्चार कर रही है ।

अतएव अँगरेज़ी शिक्षासे हमारा क्या होगा ? हम तो अँगरेज़ नहीं होंगे, पर सबल होंगे, उन्नत होंगे, सजीव होंगे । साधारणतः हम तो गृहप्रिय, शान्तिप्रिय जाति ही रहेंगे; परन्तु हमारे लिए आजकी तरह 'घरसे आँगन विदेश' की कहावत और नहीं रहेगी । हमारे बाहर भी विश्व है, इसकी हमें चेतना होगी । दूसरोंके साथ तुलना करके यदि हम अपनेमें किसी विषयमें अनभिज्ञग्राम्यता अथवा बहुत ज्यादती देखेंगे तो उसे अद्भुत, हास्यकर या दूषणीय समझकर छोड़ सकेंगे । अपने बहुत दिनोंके बन्द झरोखेंको खोलकर बाहरकी वायु और पूर्व पश्चिमका दिवालोक घरके भीतर ला सकेंगे । जो सब निर्ज्जीव संस्कार हमारे घरकी वायुको गन्दी कर रहे हैं अथवा हमारी गतिविधिके बाधक होकर पद पद पर स्थान रोककर पड़े हुए हैं उनमें हमारी चिन्ताकी विद्युत्-शिखा प्रवेश कर बहुतोंको जला देगी और बहुतोंको पुनर्ज्जीवित करेगी । हम प्रधानतः सैनिक, वणिक् या पथिक जाति चाहे न भी हो सकें, पर सुशिक्षित, परिणतबुद्धि, उदारस्वभाव, मानवहितैषी और धर्मपरायण गृहस्थ अवश्य हो सकते हैं और बहुत अर्थसामर्थ्य नहीं रहनेपर भी सदा-सचेष्ट ज्ञान और प्रेमके द्वारा साधारण मानव-जातिकी यथेष्ट सहायता कर सकते हैं ।

संभव है बहुतोंकी दृष्टिमें यह 'आयडियल' (Ideal, आदर्श) आशानुरूप उच्च नहीं मालूम हो, पर मेरे खयालमें यह खासा संगत जान पड़ता है । क्योंकि मेरी समझमें पहलवान होना

' आयडियल ' नहीं है; सुस्थ होना ही ' आयडियल ' है । आकाश-भेदी मौनुमेण्ट (Monument, स्मारक) या पिरामिड (Pyramid) ' आयडियल ' नहीं है; वायु और आलोकके आने जाने योग्य, रहने योग्य, सुदृढ़ गृह ही ' आयडियल ' है ।

जिस तरह ज्यामितिकी एक रेखा, चाहे वह कितनी ही लम्बी और ऊँची क्यों न खींची जाय, आकृतिका उच्च आदर्श नहीं कही जा सकती, उसी प्रकार मनुष्यकी विचित्र वृत्तियोंसे जिसका सामञ्जस्य नहीं है ऐसा एक हठात् गगनस्पर्शी विशेषत्व भी मनुष्यत्वका आदर्श नहीं कहा जा सकता । अपने भीतर और बाहरको ठीक तरहसे स्फूर्त्तियुक्त बना देना, अपनी विशेष क्षमताको सुस्थ और सुन्दर रूपसे साधारण प्रकृतिका अंग बना डालना ही हमारी यथार्थ परिणति है ।

हम नाना प्रकारके भ्रमों और आघात-प्रतिघातोंके बीच होकर पूर्ण मनुष्यत्वकी ओर ही जा रहे हैं । आज भी हम दो विपरीत शक्तियोंके बीच झूल रहे हैं । इसीसे दोनों पक्षके सत्य, अनिश्चित छायाकी तरह, अस्पष्ट मालूम हो रहे हैं । केवल बीच बीचमें क्षणभरके लिए मध्य आश्रय पानेसे भविष्यतके लिए कुछ स्थिर आशा भरोसा होता है । हमारी इस असंलग्न और असम्पूर्ण रचनामें पर्यायक्रमसे उसी आशा और आशङ्काकी कथा व्यक्त हुई है ।

अयोग्य भक्ति।

इष्ट पुरोहित, सबके मूल,
आजावें जब अपने घर।
खाली खाली करो प्रणाम,
तो वे मनमें होंगे क्रुद्ध ॥ १ ॥
रुपये तीन नगद जो दो,
चरण पकड़कर सिरपर लो,
तो वे होकर बड़े प्रसन्न,
देंगे बारंबार असीस ॥ २ ॥

उल्लिखित दो पद्य मैंने रुपयासम्बन्धी एक काव्यसे उद्धृत किये हैं। इसके छन्दके मेल और कविताके सम्बन्धमें मुझे कुछ कहना नहीं है। इसमें केवल यही देखना है कि इसमें जो सत्य वर्णित हुआ है वह हमारे देशके सर्वसाधारणमें प्रचलित है और सर्ववादिसम्मत है। रुपयेकी कैसी आश्चर्य क्षमता है इसके अनेक दृष्टान्तोंमें हमारे अख्यातनामा कविने ऊपरके दृष्टान्तको भी निविष्ट किया है। पर इस दृष्टान्तमें रुपयेकी क्षमता मनुष्यके मनकी उस आश्चर्यमय क्षमताको प्रकाश करती है जिसके प्रभावसे वह एक ही समयमें एक ही व्यक्तिके प्रति भक्ति और अश्रद्धा, दोनों दिखा सकता है।

हम इस विषयमें जरा भी अन्धे नहीं हैं कि साधारणतया हमारे पुरोहित साधु पुरुष नहीं होते हैं और सामान्य संसारी लोगोंकी तरह रुपये पैसेसे उनको भी अतिशय लोभ होता है, पर तो भी हम उनके पैरोंकी धूल माथे पर चढ़ाकर कृतार्थ हुआ करते हैं। इसका कारण यह है कि हम गुरुको ब्रह्म समझते हैं। ऐसा करनेके समय हम इस बातको

सोचते ही नहीं कि ऐसी भक्तिके द्वारा हम स्वयं अपनेको अपमानित करते हैं, कारण, उपयुक्त मनुष्यका सम्मान करना ही आत्मसम्मान है।

पर अन्धभक्ति अन्धे मनुष्यकी तरह अभ्यासकी राहसे अनायास चली जाती है। सभी देशोंमें इसके उदाहरण मिलते हैं। विलायतमें लॉर्ड (Lord) का लड़का बिलकुल निकम्मा होने पर भी बहुत सहजमें योग्य लोगोंकी श्रद्धा अपनी ओर आकर्षित कर लेता है।

बहुत दिनोंसे बहुतसे लोग जिसकी पूजा करते चले आते हैं उसपर भक्ति करनेके लिए कोई भक्तिजनक गुण या क्षमता विचारनेका प्रयोजन नहीं होता है; यहाँ तक कि उस स्थलमें अभक्तिका प्रत्यक्ष कारण उपस्थित रहने पर भी अर्घ्य आप ही आप आकृष्ट हो जाता है।

इस प्रकार हमारे मनमें स्वभावतः ही बहुतसा जड़धर्म उपस्थित है। इस कारण हमारा मन अभ्यासके गढ़े हुए रास्तेमें मोहके आकर्षणसे आप ही आप पत्थरकी तरह लुढ़क पड़ता है और जब कोई युक्ति बीचमें बाधा देने आती है तो वह स्वयं ही चूर्ण हो जाती है।

भक्तिके द्वारा जो विनय आता है वह सभी स्थानोंमें शोभाका विषय नहीं हो सकता। यह विनय केवल ग्रहण करने, शिक्षा पाने और माहात्म्यके प्रभावके निकट अपनी प्रकृतिको साष्टाङ्ग अनुकूल करनेके लिए है। इसीसे अमूलक विनय अथवा अस्थान विनय दुर्गति लाता है। हीनके प्रति भक्ति करके वह हीनता लाभ करता है और अयोग्यके निकट सिर झुकाकर अपनेको अयोग्यताके अनुकूल बना रखता है।

भक्ति हमें भक्तिभाजनके आदर्शकी ओर स्वतः आकर्षित करती है। इसीसे सजीव सभ्य समाजमें कई कठिन विचार प्रचलित हैं।

वहाँ जिस मनुष्यमें ऐसी कोई क्षमता है जो सर्वसाधारणकी दृष्टि और श्रद्धा अपनी ओर आकर्षित करती है समाज उसके सब विषयमें निष्कलङ्क होनेकी प्रत्याशा करती है। जो व्यक्ति राजनीतिमें श्रद्धेय है वह यदि धर्मनीतिमें हेय होगया तो उसे साधारण दुर्नीतिपर लोगोंकी अपेक्षा कहीं अधिक निन्दनीय होना पड़ता है।

एक हिसाबसे इसमें कुछ अन्याय है; क्योंकि क्षमता सर्वतोव्यापिनी नहीं होती है। ऐसा कोई प्राकृतिक नियम नहीं है कि जो राष्ट्रनीतिमें विचक्षण है उसकी क्षमता और चरित्रके अन्यान्य अंश भी साधारण लोगोंसे अधिक उन्नत होंगे ही। अतएव साधारण लोगोंका जिस आदर्शसे विचार करते हैं, राष्ट्रनीतिमें विचक्षण मनुष्यका राष्ट्रनीतिको छोड़कर अन्य अंशोंमें उसी आदर्शसे विचार करना उचित है। किन्तु समाज केवल आत्मरक्षाके लिए इस विषयमें कुछ अविचार भी करनेको लाचार होती है।

इसका कारण यह है और यह पहले भी कहा जा चुका है कि भक्तिके द्वारा मन ग्रहण करनेकी अनुकूल अवस्थामें उपनीत होता है। ऐसी विचारशक्ति उसे उस समय नहीं रहती कि इस अंशको ग्रहण करें और उसको छोड़ दें।

किन्तु जिस विषयमें कोई असाधारण विचक्षण है उसी विषयमें उसका अनुसरण करना साधारण मनुष्योंके लिए दुःसाध्य है। सुतरां जिस अंशमें वह साधारणकी अपेक्षा उच्च नहीं है, बल्कि जिस अंशमें वह दुर्बल है उसी अंशका अनुकरण देखते देखते फैल जाता है और सफल होता है। इससे जो मनुष्य एक विषयमें बड़ा है वह यदि और और विषयोंमें हीन हो तो समाज पहले पहल उसके

एक विषयके महत्त्वको भी नहीं माननेकी चेष्टा करती है,—और यदि उसमें कृतकार्य नहीं हुई तो उसकी हीनताके प्रति साधारण हीनताकी अपेक्षा अधिकतर प्रगाढ़ कलङ्क लगाती है। सभ्य समाजकी यह चेष्टा आत्मरक्षाके लिए है। यह चेष्टा जो असाधारण हैं उनके संशोधनके लिए उतनी नहीं है, जितनी जो साधारण हैं उन्हें भक्तिके कुफलसे बचानेके लिए।

अहङ्कारके कुफलके सम्बन्धमें सभी नीतिशास्त्र हमें सतर्क किया करते हैं। अहङ्कारसे लोगोंका पतन क्यों होता है? प्रथम कारण तो यह है कि अपने बड़प्पन पर अतिविश्वास रहनेसे लोग दूसरोंको ठीक तरह नहीं जान सकते हैं। जिस संसारमें दस आदमियोंके साथ रहना और काम करना पड़ता है वहाँ तभी सब विषयोंमें सफलता मिलनी सम्भव है, जब हम अपनी तुलनासे दूसरोंको यथार्थ रूपमें जान सकें। चीनदेश आत्माभिमानकी प्रबलताके कारण जपानको नहीं पहचान सका, इसीसे उसकी ऐसी अकस्मात् दुर्गति हुई। जर्मनीसे युद्ध होनेसे पहले फ्रान्सकी भी वही हालत हुई थी। और यह कहावत तो हमारे देशमें प्रसिद्ध ही है कि "अतिदर्पे हता लङ्का।" अंगरेज़ीमें एक प्रवाद है कि ज्ञान ही बल है (Knowledge is Power)। क्या घरमें और क्या कर्मक्षेत्रमें, दोनों ही जगह, दूसरोंके सम्बन्धमें सम्यक् ज्ञान होना ही हमारा प्रधान बल है और अहङ्कार उस ज्ञानके विषयमें अज्ञता लाकर हमारी दुर्बलताका प्रधान कारण हो जाता है।

अहङ्कारमें एक और विपत्ति यह है कि वह संसारको हमारे प्रतिकूल खड़ा करता है। कोई कितना ही बड़ा क्यों न हो वह संसारके निकट नाना विषयोंमें ऋणी होता है। अत एव जो उस ऋणको

विनयपूर्वक स्वीकार करना नहीं चाहता है उसके लिए आगे ऋण मिलना कठिन हो जाता है।

पर सबसे बड़ी एक और विपत्ति है। बड़ेको बड़ा समझनेमें एक प्रकारका आध्यात्मिक आनन्द है। यह आनन्द आत्माका विस्तार होनेसे होता है। पर अहङ्कार हमें अपनी सङ्कीर्णतामें ही आबद्ध कर रखता है। जिसे भक्ति नहीं है वह नहीं जानता कि अहङ्कारका अधिकार कितना सङ्कीर्ण है। जिसे भक्ति है वही जानता है कि अपनेसे बाहरके बृहत्त्व और महत्त्वका अनुभव करनेसे ही आत्माकी मुक्ति होती है।

इसीसे वैषयिक और आध्यात्मिक दोनों ही हिसाबसे अहङ्कारकी इतनी निन्दा की जाती है।

किन्तु नीतिशास्त्रोंमें इस बातका भी उल्लेख रहना उचित है कि अयोग्य भक्ति भी अहङ्कारकी तरह सब प्रकारसे निन्द्य है। अन्धभक्ति भी दूसरोंके सम्बन्धमें हमारी अज्ञताका कारण होती है। और अयोग्य भक्तिसे यदि हमें अपने समकक्ष या अपनेसे हीनके निकट सिर झुकाना पड़े तो उससे जो दीनता उपस्थित होती है वह अहङ्कारकी सङ्कीर्णतासे कम हेय नहीं है। इसीसे अँगरेज़ी समाजमें अभिमान अहङ्कारकी तरह निन्दनीय नहीं समझा जाता है। वे कहते हैं कि अभिमान नहीं रहनेसे मनुष्यत्वकी हानि होती है।

जिसे मनुष्यत्वका अभिमान है वह कभी अयोग्य स्थानमें अपना सिर नहीं झुका सकता। उसकी भक्तिकी वृत्ति यदि चरितार्थता चाहती है तो वह जहाँ तहाँ लोटता नहीं फिरता; वह यथोचित सन्धान और प्रमाणके द्वारा यथार्थ भक्तिके पात्रको ढूँढ़ निकालता है।

किन्तु हम लोग भक्तिप्रवण हैं। भक्ति करनेको ही हम धर्माचरण कहा करते हैं। किसकी भक्ति करते हैं, यह सोचनेकी आवश्यकता नहीं समझते।

हमारी सत्प्रवृत्तिकी भी राह यदि अत्यन्त अबाध हो तो उसका अच्छा फल नहीं होता है। उसका बल, उसकी सचेष्टता और उसकी आध्यात्मिक उज्ज्वलताकी रक्षाके लिए, उसे अमोघ बनानेके लिए, उसे बाधा विपत्तियोंसे संग्राम करना आवश्यक है।

जिस तरह वैज्ञानिक सत्य निर्णय करनेके लिए उसको पद पद पर संशय द्वारा बाधा देनी होती है; सरसरी निगाहसे जो संसारके साधारण लोगोंके निकट असन्दिग्ध सत्यके नामसे प्रसिद्ध है उसे भी कठिन प्रमाणोंके द्वारा बारंबार विचित्र भावसे परीक्षा कर देखना पड़ता है। जो कोई बड़ी व्यग्रतासे बहुत ही शीघ्र अपने प्रश्नका उत्तर पाना चाहता है अधिकांश स्थलोंमें उसे ग़लत उत्तर मिलता है। जिस तिस प्रकारसे जिज्ञासावृत्तिकी निवृत्ति करना ही हमारा प्रधान लक्ष्य होना उचित नहीं है; सत्यका निर्णय ही जिज्ञासाका प्रकृत परिणाम है।

उसी प्रकार शीघ्र शीघ्र किसी न किसी तरह भक्तिवृत्तिकी परितृप्ति करनी ही भक्तिकी सार्थकता नहीं है। बल्कि किसी तरहसे अपनेको परितृप्त करनेके अतिमात्र आग्रहसे वह अपनेको भ्रान्त पथमें ले जाती है। इस प्रकार वह मिथ्या देवता, आत्मावमान और सहज साधनाकी सृष्टि करती रहती है। महत्त्वकी धारणा ही भक्तिका लक्ष्य है,—चाहे वह कितनी ही कठिन क्यों न हो! आत्म-परितृप्ति नहीं,—चाहे वह कितनी ही सहज और सुखकर क्यों न हो! जिज्ञासावृत्तिके पथमें बुद्धि-विचार ही प्रधान आवश्यक बाधा है। उसके साथ एक बाधा अभिमान भी है।

अभिमान कहता है—तुम मुझे ठग नहीं सकते। मैं ऐसा अपदार्थ नहीं हूँ कि जिसे तिसे सत्य मानता फिरूँ। पहले मेरे सारे संशयोंको परास्त करो, उसके बाद मैं सत्यको सत्य मानकर ग्रहण कर सकूँगा।

भक्तिके मार्गमें भी वही बुद्धि-विचार और अभिमान अत्यावश्यक बाधाएँ हैं। ये बाधाएँ जब उपस्थित रहती हैं तभी भक्ति यथार्थ भक्तिभाजनका आश्रय ग्रहणकर अपनेको चरितार्थ करती है। अभिमान सहजमें सिर झुकाने नहीं देता है। जिस समय वह आत्मसमर्पण करता है उस समय तक भक्तिभाजनकी परीक्षा हो चुकती है, तब तक रामचन्द्र धनुष तोड़कर अपने बलका प्रमाण दे चुकते हैं। इन बाधाओंके न रहनेसे भक्ति आलसी हो जाती है, अन्धी हो जाती है और कलकी पुतलीकी तरह विना विचारे प्रतिक्षण सिर झुका कर अपनेको कृतार्थ समझा करती है। इस तरह भक्ति अध्यात्म-शक्तिसे मोहमें या मूर्खतामें परिणत हो जाती है।

बहुधा हम भूलसे भक्ति करते हैं। जिसे हम महत् समझते हैं वह वास्तवमें महत् नहीं भी हो सकता है; पर जबतक वह हमारी कल्पनामें महत् है तब तक उसकी भक्ति करनेमें हानिका कारण कम ही है।

हाँ, हानिका कारण कुछ भी नहीं है यह नहीं कहा जा सकता। पहले ही कहा जा चुका है कि हम जिसको, बड़ा समझकर, भक्ति करते हैं, ज्ञात या अज्ञात रूपसे उसका अनुकरण करनेमें भी प्रवृत्त होते हैं। परन्तु जो यथार्थतः महत् नहीं है, जो केवल हमारी कल्पना और विश्वासमें बड़ा है, अन्ध रीतिसे उसके आचरणका अनुकरण करना, हमारे लिए, उन्नतिका साधक नहीं हो सकता।

पर हमारे देशमें आश्चर्यका विषय यह है कि अपनी भूल समझकर भी हम भक्ति करते हैं। जिसे हम हीन समझते हैं उसके पैरकी धूल भी हम अकृत्रिम भक्तिभावसे सिर पर चढ़ानेको व्यग्र हो जाते हैं।

हमारे देशमें महन्तोंको महत्, पुरोहितोंको पवित्र और देव-चरित्रोंको उन्नत होनेकी ज़रूरत नहीं है, क्योंकि हम भक्तिके लिए सदा प्रस्तुत रहते हैं। जो महन्त जेल जानेके योग्य है उसका चरणामृत पान कर हम अपनेको अपमानित नहीं समझते; जिस पुरोहितका चरित्र विशुद्ध नहीं है, जो पूजानुष्ठानके मन्त्रोंका अर्थ तक भी नहीं जानता है, उसे इष्ट गुरुदेव मान लेनेमें हमें एक मुहूर्त्तके लिए भी कुण्ठा बोध नहीं होती है और हमारे ही देशमें यह भी देखा जाता है कि हम जिन सब देवताओंके पुराण-वर्णित आचरणको लक्ष्य कर बहुधा बातचीतमें, प्रचलित काव्योंमें और गीतोंमें निन्दा और परिहास करते हैं उन्हीं देवताओंकी पूर्ण भक्तिसे पूजा भी किया करते हैं।

सुतरां इस स्थलमें यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि हम क्यों पूजा करते हैं। इसका एक उत्तर यह है कि हम अभ्याससे अर्थात् मनकी जड़ताके कारण पूजा करते हैं। और दूसरा उत्तर यह है कि हम भक्तिजनक गुणोंके लिए पूजा नहीं करते हैं पर शक्तिकी कल्पना करके और उस शक्तिसे फल पानेकी कामनासे पूजा करते हैं।

ऊपर उद्धृत किये गये पद्योंके आरम्भमें ही कहा है कि—"इष्ट पुरोहित, सबके मूल।" इसीसे मालूम हो रहा है कि गुरु और पुरोहितमें हम एक गूढ़ शक्तिके अस्तित्वकी कल्पना किया करते हैं। उनकी शिक्षा, उनका चरित्र और आचरण चाहे जैसा हो, वे हमारे सांसारिक मंगलके प्रधान

कारण हैं, उनपर भक्ति करनेसे लाभ है और अभक्तिसे हानि है,–इसी विश्वासने हमारे माथेको उनके पैरोंके निकट झुका रक्खा है । किसी किसी सम्प्रदायमें तो यह विश्वास इतनी दूर तक घुस गया है कि लोग गृहधर्मनीतिके सुस्पष्ट व्यभिचारके द्वारा भी गुरुभक्तिको अन्याय आश्रय दिया करते हैं ।

देवताओंके विषयमें भी यह बात घटती है । इसकी कोई आवश्यकता नहीं है कि देवचरित्र हमारा आदर्श चरित्र हो । हम केवल इतना ही जानते हैं कि देव-भक्तिमें फल है, कारण, देवता शक्तिमान हैं ।

ब्राह्मणोंके सम्बन्धमें भी यही बात है । दुश्चरित्र और नराधम होनेपर भी ब्राह्मण ब्राह्मणके नामसे ही पूज्य है । ब्राह्मणोंमें अनेक गूढ़ शक्तियाँ हैं । उनके प्रसादसे हमारी भलाई और क्रोधसे बुराई हुआ करती है । ऐसी भक्तिसे भक्त और भक्तिके पात्रमें आध्यात्मिक सम्बन्ध नहीं रहता, लेन देनका सम्बन्ध ही रह जाता है। इस सम्बन्धसे भक्तिपात्र भी ऊँचा नहीं हो सकता और भक्त भी नीचताको प्राप्त हो जाता है ।

किन्तु इस देशकी देवभक्तिके सम्बन्धमें हमारे बहुतसे आधुनिक शिक्षित लोग अत्यन्त सूक्ष्म तर्क किया करते हैं । वे कहते हैं कि जब ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वव्यापी है तब हम ईश्वर समझकर चाहे जिसकी पूजा क्यों न करें उसे ईश्वर ही ग्रहण कर लेता है । अतएव ऐसी भक्ति निष्फल नहीं है ।

इस तर्कसे सिद्ध होता है कि पूजा करना मानों कर देनेके जैसा है; चाहे उसे स्वयं राजाके हाथ दें या उसके तहसीलदारोंके हाथ दें, वह एक ही राजभाण्डारमें जाकर जमा हो जाता है ।

देवताके साथ लेन देनका सम्बन्ध हमारे मनमें इतना बद्धमूल हो गया है कि हम समझते हैं कि हमने पूजाके द्वारा मानो ईश्वरका एक बड़ा सा उपकार किया है और इसके बदले उससे हमारा एक प्रत्युपकार पावना है। इन बातोंको नहीं भूल सकनेके कारण ही हम देवभक्तिके सम्बन्धमें ऐसी दूकानदारीकी बातें किया करते हैं। जब पूजाका देवताओंके हस्तगत होजाना ही हमारा लक्ष्य है और जब उसके ठीक तरहसे उनके ठिकानेपर पहुँच जानेसे ही हमारा लाभ है, तब जितने कम खर्चमें और कम परिश्रमसे वह चालान की जा सके, धर्मव्यवसायमें उतनी ही हमारी जीत है। ईश्वरकी स्वरूपधारणाकी चेष्टाका कुछ प्रयोजन नहीं, कठोर सत्यानुसन्धानकी कोई आवश्यकता नहीं; सामने काठ, पत्थर जो कुछ उपस्थित मिले उसीकी, ईश्वर मानकर, पूजा कर देनेसे, जिनकी पूजा है वे स्वयं ही, व्यग्र हो, हाथ बढ़ाकर उसे ले लेंगे।

हमारे पुराणों और प्रचलित काव्योंमें जैसा वर्णन है उससे बोध होता है कि देवता लोग अपनी अपनी पूजा ग्रहण करनेके लिए, मुर्दों पर चील गीधोंकी तरह, खींचाखींची नोचानाची कर रहे हैं। अतएव स्वयं ईश्वरको ही हमसे भक्ति पानेका लालच है, यह बात हमारे शिक्षित सम्प्रदायके मनमें भी अलक्ष्य रूपसे विराज रही है।

किन्तु क्या मनुष्यपूजामें और क्या देवपूजामें भक्तिसे भक्तको ही लाभ है। हम जिनकी भक्ति करते हैं वे इस बातको न भी जानें तो कोई हानि नहीं। किन्तु हमें उनको जानना जरूर चाहिए; तभी हमारी भक्तिकी सार्थकता होगी। पूज्य व्यक्तिके आदर्शको अपनी प्रकृतिके साथ सम्पूर्णरूपसे मिला डालनेकी यदि इच्छा हो, तो भक्तिको छोड़ और कोई उपाय नहीं है। यदि हम वस्तुतः उन्हींको चाहते हैं

जिनकी पूजा करते हैं, तो उनकी प्रकृतिके आदर्शको, उनके सत्यके स्वरूपको एकान्त भक्तिके साथ अपने हृदयमें स्थापन करना होगा। वैसी दशामें ठगनेकी प्रवृत्ति स्वतः ही नहीं होती,—उनसे अपनी विसदृशता और दूरता हम जितनी ही दीनताके साथ अनुभव करते हैं,क्षुद्र भक्ति उतनी ही अधिक बढ़कर अपनेको उनके साथ लीन करनेकी चेष्टा करती है।

भक्तिका गौरव यही है। भक्तिरस एक ऐसी आध्यात्मिक रसायन–शक्ति है जो क्षुद्रको गला कर महत्के साथ मिश्रित कर सकती है।

अतएव जब हम ईश्वरकी भक्ति करते हैं तब उससे उनका ऐश्वर्य नहीं बढ़ता–हम ही उस रसस्वरूपके साथ रासायनिक मिलन लाभ करते हैं। हमारा ईश्वरका आदर्श जितना ऊँचा होगा, मिलनका आनन्द भी उतना ही प्रगाढ़ होगा और उसके द्वारा आत्माका विस्तार भी उतना ही विपुल होगा।

हम जिनकी भक्ति करते हैं उन्हें छोड़कर और किसीको भी नहीं पा सकते। यदि गुरुकी, ब्रह्म समझकर, भक्ति करें, तो उस गुरुका आदर्श ही हमारे मनमें अङ्कित होगा। इसमें सन्देह नहीं कि भक्तिकी प्रबलतासे गुरुका वह मानस आदर्श उनके स्वाभाविक आदर्शकी अपेक्षा आप ही कुछ बढ़ अवश्य जायगा, पर उससे स्वतन्त्र नहीं हो सकेगा।

अस्थानमें भक्ति करनेसे एक बड़ा पाप यह होता है कि जो यथार्थ पूज्य हैं वे अयोग्य पात्रोंके साथ एक ही आसन पर बैठा दिये जाते हैं; देवता उपदेवताओंमें कोई भेद नहीं रहता है।

हमारे देशमें ऐसा अनुचित मिश्रण सभी बातोंमें हुआ है। अपने देशमें अनाचार, आचारमें त्रुटि और धर्म-नियमका लङ्घन—इन सबको एकसाथ मिलाकर हम घोर जड़वादी और निगूढ़ नास्तिक हो चले हैं।

भक्ति-राज्यमें भी उसी तरहकी मिलावट करके हमने भक्तिकी आध्यात्मिकता नष्ट कर दी है। इसीसे हम साधु शूद्रकी भक्ति नहीं करते, पर असाधु ब्राह्मणकी करते हैं। हम प्रभातसूर्यालोकित हिमाद्रिशिखरकी ओर दृष्टिपात किये बिना चले जा सकते हैं, पर सिन्दूरलिप्त प्रस्तर-खण्डकी उपेक्षा नहीं कर सकते हैं।

सत्य और शास्त्रोंके विषयमें भी हमने ऐसी ही खिचड़ी पकाई है। समुद्रयात्रा उचित है या नहीं, इस बातका निर्णय करनेमें यही देखना उचित है कि नये देश और नये आचार-व्यवहार देखनेसे हमारे ज्ञानका विस्तार होता है या नहीं, हमारी सङ्कीर्णता दूर होती है या नहीं, किसी ज्ञान-पिपासु उन्नति-कामी व्यक्तिको भूखण्डकी एक छोटीसी सीमामें बलपूर्वक बाँध रखनेका न्याय्य अधिकार किसीको है या नहीं। किन्तु इन बातोंको न देख, हम देखते हैं कि पराशरने समुद्र पार होनेको कहा है या नहीं और अत्रिने उसका समर्थन कैसे किया है।

ऐसी विपरीत विकृति क्यों हुई? इसका मुख्य कारण यह है कि जिन सब प्रवृत्तियोंका प्रधान गौरव स्वाधीनतासे ही है, वे ही बन्धनसे बाँध दी गई हैं।

जिस भक्तिबलसे हम महत्त्वके निकट आत्म-समर्पण करते हैं—अभ्याससे या दूसरोंके कहनेसे नहीं, पर स्वाधीन बोध—शक्तिके योगसे—वही सार्थक भक्ति है।

किन्तु इसमें आशङ्का यह है कि यदि बोधशक्ति तुममें न हो तो? अतएव हमारे यहाँ यह नियम कर दिया गया कि अमुक सम्प्रदायके

इस रीतिसे भक्ति करनी ही होगी । नहीं करनेसे सांसारिक क्षति और पुरुषानुक्रमसे नरकवास होगा ।

मिट्टीमें वृक्ष लगानेसे उसे गायें चर जा सकती हैं और पथिक पैरोंसे कुचल दे सकते हैं, इस भयसे वह लोहेके सन्दूकमें बन्द करके रक्खा गया । वहाँ वह निरापद तो अवश्य रहा, पर उसमें फल नहीं लगे; सजीव वृक्ष मुर्दा काठ हो गया । हमारी भी बस यही हालत हुई है ।

मनुष्यकी बुद्धिको जबतक स्वाधीनता नहीं दी जाय तबतक वह व्यर्थ है । किन्तु शायद वह भूल करे, इस डरसे हमारे यहाँके व्यवस्था-दाताओंने यह नियम बनाया है कि बुद्धिको बाँध रक्खो और हम बुद्धि-मानोंने जो कोल्हू गाड़ रक्खा है, आँखोंपर पट्टी बाँधकर, सदा उसीकी प्रदक्षिणा करते रहो । स्वास्थ्यतत्त्वके सम्बन्धमें भी तुम्हें कभी सिर खपाना नहीं होगा—हमने ठीक कर दिया है कि किस तिथिमें मूली खानेसे नरक मिलेगा और मछली खानेसे अक्षय फल लाभ होगा ।

मूली छोड़कर मछली खानेसे हमारा क्या उपकार हुआ, इसका तो कोई प्रमाण नहीं मिलता, पर इससे जो अपकार हुआ है इतिहासमें उसका क्रमशः ढेर लग रहा है ।

पूर्व और पश्चिम।

भारतवर्षका इतिहास किनका इतिहास है ?

जिन श्वेताङ्ग आर्योंने प्रकृति और मनुष्यकी सारी दुर्भेद्य बाधाओं-को जीतकर भारतवर्षमें प्रवेश किया और उस अँधेरे घनघोर जङ्ग-लको—जिससे यह विशाल देश ढका हुआ था—बड़ी भारी यवनिकाकी तरह हटाकर, फल-फूल-धन-धान्यसे परिपूर्ण, आलोकमय, चित्रवि-चित्र रङ्गभूमिको सबके सामने खोल दिया, उन्हींकी बुद्धि, शक्ति और साधनाने एक दिन इस इतिहासकी नींव डाली थी। किन्तु वे भी यह न कह सके कि भारतवर्ष हमारा ही भारतवर्ष है।

आर्य लोग अनार्योंसे मिल गये थे। प्रथम युगमें, जिस समय आर्योंका प्रभाव अक्षुण्ण था उस समय भी, अनार्य शूद्रोंके साथ उनका प्रतिलोम विवाह प्रचलित था। उसके बाद बौद्धोंके समयमें उक्त सम्बन्ध और भी बेरोक टोक होने लगा। इस युगके अन्तमें जब हिन्दू समाज अपने कोटोंका पुनःसंस्कार करने लगी और बड़ी बड़ी चट्टानोंसे उसनें अपने प्राचीरको अभेद्य बनाना चाहा उस समय देशकी ऐसी दशा थी कि कर्मकाण्ड अनुष्ठानादिके लिए शुद्ध ब्राह्मण ढूँढ़ निकालना कठिन हो गया था, बहुतसे स्थानोंमें दूसरे दूसरे देशोंसे ब्राह्मणोंको बुलाना पड़ा था और कहीं कहीं तो राजाकी आज्ञासे जनेऊ पहनाकर ब्राह्मण बना लेनेकी भी बात प्रसिद्ध है। वर्णकी जिस शुभ्रताका आर्योंको बड़ा गौरव था वह शुभ्रता मलिन हो गई है और आर्योंके शूद्रोंके साथ मिल जानेसे, उनके अनेक आचार और धर्म, देवता और उपासना-विधि ग्रहण करनेसे और उन्हें अपनी समा-

जके अन्तर्गत कर लेनेसे इस हिन्दू समाज नामक समाजकी रचना हुई है । केवल यही नहीं कि वैदिक समाजके साथ इस समाजकी एकता नहीं है, बल्कि दोनोंमें बहुतसा विरोध भी है ।

अतीतके उक्त पर्वमें भी क्या भारतवर्षका इतिहास विरामकी रेखा खींच सका है ? क्या विधाताने उसे यह कहने दिया है कि भारतवर्षका इतिहास हिन्दुओंका इतिहास है ? हिन्दुओंके भारतवर्षमें जब राजपूत नरेश आपसहीमें मारकाट करके, आत्मघाती वीरताके अभिमानका प्रचार कर रहे थे, उस समय देशव्यापी अनैक्य और विच्छिन्नताकी दरारसे मुसलमानोंने इस देशमें प्रवेश किया, वे चारों ओर फैल गये और पीढ़ी-दर पीढ़ी जन्म लेकर तथा मरकर उन्होंने यह भूमि अपनी बना ली ।

यदि हम इसी जगह रोक कर कहें—बस, हो गया; भारतवर्षका इतिहास हिन्दू-मुसलमानोंका ही इतिहास है, तो क्या वह अनन्त विश्वकर्मा—जो मानव-समाजको सङ्कीर्ण केन्द्रसे क्रमशः बड़ी परिधिकी ओर खींच रहा है—अपना प्लैन[1] (Plan) बदल कर हमारे अहङ्कारको सार्थक करेगा ?

भारतवर्ष हमारा होगा या तुम्हारा होगा, हिन्दूका होगा या मुसलमानका होगा या और कोई जाति आकर यहाँ राज्य करेगी—विधाताके दरबारमें इसी बातका सबसे बढ़कर विचार हो रहा हो, ऐसा नहीं है । यह भी नहीं है कि उसकी अदालतमें भिन्न भिन्न पक्षके वकील अपने अपने मुवक्किलोंकी तरफ़से लड़ रहे हों और अन्तमें मुक़दमा फ़ैसल होजानेपर हिन्दू या मुसलमान, नहीं तो अँगरेज़ या और कोई जाति पूरी डिगरी पाकर, अपना झंडा गाड़ देगी । हम समझते हैं

---

१ प्लैन—अभीष्ट कार्योंके करनेका प्रस्तावित क्रम—योजना ।

कि संसारमें **स्वत्व**की लड़ाई हो रही है—पर यह हमारा अहङ्कार है; वास्तवमें **सत्य**की लड़ाई हो रही है।

जो सबसे श्रेष्ठ है, सबसे पूर्ण है, चरम सत्य है, वह सार्वजनिक है; और वही बहुतसे आघात संघातोंके बीचसे ऊपरकी ओर उठ रहा है। हम अपनी सारी इच्छासे उसे जितना आगेकी ओर बढ़ानेकी चेष्टा करेंगे उतनी ही हमारी चेष्टा सार्थक होगी। इसके विपरीत चाहे व्यक्तिके खयालसे हो या जातिके खयालसे हो; अपनेको ही जयी बनानेकी चेष्टाका, संसारके विधानमें, कुछ भी गुरुत्व नहीं है। सिकन्दरके[1] नेतृत्वमें ग्रीसकी जयपताका पृथिवीको एकच्छत्र नहीं कर सकी, उससे ग्रीसका अभिमान ही दलित हुआ। आज संसारमें उस अभिमानका मूल्य क्या है? रोमका, विश्व-साम्राज्य स्थापित करनेका आयोजन बर्बरोंके संघातसे खण्ड खण्ड हो समस्त युरपमें बिखर गया, इससे रोमका दर्प तो चूर्ण हो गया, पर उस हानिके लिए आज कौन विलाप करेगा? ग्रीस और रोमने महाकालरूपी सोनेके जहाजमें अपनी अपनी सारी पक्की फसल लाद दी है; किन्तु वे आप भी उस जहाजमें अबतक स्थान ग्रहण करके नहीं बैठे हैं। इससे केवल समयका अनावश्यक भार कम हुआ है, कोई हानि नहीं हुई है।

भारतवर्षका जो इतिहास संघटित होरहा है उसका अन्तिम लक्ष्य यह नहीं है कि हिन्दू ही बड़े हों या कोई दूसरा बड़ा हो। भारतवर्षमें मनुष्यका इतिहास एक विशेष सार्थकताकी मूर्त्ति धारण करेगा और परिपूर्णताको एक अपूर्व आकार देकर उसे सारी मानव-जातिकी सामग्री बना डालेगा। इसकी अपेक्षा कोई भी छोटा अभिप्राय भारतवर्षके

[1] Alexander.

इतिहासका नहीं हो सकता है। इस परिपूर्णताकी प्रकृष्ट प्रतिमा गढ़नेमें यदि हिन्दू, मुसलमान या अँगरेज़ अपने अपने वर्त्तमान आकार प्रकारको एकदम लुप्त कर दें, तो उससे उनके जाति-अभिमानकी अकालमृत्यु हो सकती है पर सत्य या मङ्गलका जरा भी ह्रास नहीं हो सकता।

बृहत् भारतवर्षको गढ़कर तैयार करना है। हम उसके उपकरण मात्र हैं। किन्तु यदि कोई उपकरण यह कहकर विद्रोह प्रकाश करता रहे कि मैं ही सबसे ऊँचा हूँ, मैं समस्तके साथ नहीं मिलूँगा, मैं स्वतन्त्र रहूँगा, तो वह उपकरण व्यर्थ है, किसी कामका नहीं। विराट् रचनाके साथ जो खंड-सामग्री किसी प्रकार मेल नहीं खायगी और जो कहेगी कि मैं ही बनी रहना चाहती हूँ वह एक दिन सम्पूर्णसे अवश्य अलग छूट जायगी। और जो कहेगी कि मैं कुछ नहीं हूँ, जिस सम्पूर्णकी रचना हो रही है एक मात्र उसीके लिए मैंने जन्म ग्रहण किया है, वही क्षुद्रताको त्यागकर बृहत्में रक्षित होगी। इसी तरह भारतवर्षकी जनताका भी जो अंश समस्तके साथ नहीं मिलना चाहेगा, जो किसी विशेष अतीत कालकी ओटमें छिपकर सबसे अलग होकर रहना चाहेगा, जो अपने चारों ओर केवल बाधा, विघ्न रचकर रक्खेगा, भारतवर्षके विधाता उसे ठोक पीटकर, या तो दुःखमें सबके साथ समान कर देंगे, या उसे अनावश्यक रुकावट समझकर एक दम छोड़ ही देंगे। क्योंकि, भारतवर्षका इतिहास **हमारा** ही इतिहास नहीं है, बल्कि हम ही भारतवर्षके इतिहासकी **सामग्री**[१] हैं। यदि हम अपनेको उसके योग्य न बनावेंगे तो हम ही नष्ट हो जायँगे। यदि हम इस

१ जिससे कोई वस्तु तैयार की जाय वह सामग्री।

बातका गौरव करें कि हम सब तरहसे सबके सम्पर्कसे अलग रहकर, अत्यन्त शुद्धभावसे स्वतन्त्र रहेंगे, यदि यह सोचें कि हमारे इतिहासने इसी गौरवको हमारे वंशमें चिरस्थायी कर रखनेका भार ग्रहण किया है, यदि खयाल करें कि हमारा धर्म केवल हमारा ही धर्म है, हमारा आचार विशेषरूपसे हमारा ही है, हमारे पूजाक्षेत्रमें और कोई नहीं आ सकता, हमारा ज्ञान केवल हमारे ही लोहेके बक्समें बन्द रहेगा—तो हम अनजानसे मानो यही कहते हैं कि विश्व-समाजमें हमारे बधकी दण्डाज्ञा प्रचारित हो चुकी है, और अब हम अपने ही रचे हुए कारागारमें उसकी बाट जोह रहे हैं।

इस समय पश्चिमसे आकर अँगरेज़ोंने भारतवर्षके इतिहासमें एक महत्त्वका स्थान अपने अधिकारमें कर लिया है। यह घटना बे बुलाये नहीं घटित हुई है और न आकस्मिक ही है। यदि भारतवर्ष पश्चिमके सम्पर्कसे वञ्चित रहता तो सम्पूर्णतासे वञ्चित होता। युरपके दीपकमें अभी ज्योति है; उस दीपशिखासे अपनी बत्ती जलाकर हमें भी एक बार फिर काल-पथमें यात्रा करनेके लिए बाहर निकलना पड़ेगा। न तो हम ही ऐसे हतभाग्य हैं और न संसार ही इतना दरिद्र है कि हमें नया कुछ मिल ही न सके। हमें जो कुछ मिल सकता है; हमारे पूर्वजोंने उसे तीन हजार वर्ष पहले ही सञ्चय कर रक्खा है। यदि यह बात सच हो कि हम जो कर सकते हैं वह हमारे पहले ही किया जा चुका है, तब तो संसारमें हम बिल्कुल बेज़रूरत पृथिवीका भार होकर बहुत दिन नहीं रह सकते हैं। जो अपने प्रपितामहोंमें ही सब प्रकारसे अपनी समाप्ति समझते हैं और अपने सारे विश्वास और आचारके द्वारा अप

नेको आधुनिकोंके संस्रवसे बचाकर चलनेकी चेष्टा करते हैं, वे वर्त्तमानकी किस ताड़नासे अथवा भविष्यत्के किस भरोसे पर अपनेको बचाये रक्खेंगे ? पृथिवीमें हमारा भी प्रयोजन है और वह प्रयोजन हमारी क्षुद्रतामें ही लिपटा हुआ नहीं है। वह सारी मनुष्य-जातिके साथ ज्ञान, प्रेम और कर्मके नानाविध परिवर्द्धमान सम्बन्धोंमें, नाना प्रकारके नये नये उद्यमोंमें, नये नये उद्योगोंमें सजग रहेगा और लोगोंको सजग करेगा। हममें उसी उद्यमका सञ्चार करनेके लिए अँगरेज़ोंने हमारे पुराने दरवाजेको तोड़कर, जगतके यज्ञेश्वरके दूत बनकर, हमारे घरमें प्रवेश किया है। जबतक उनका आगमन सफल न होगा, जगत-यज्ञके निमन्त्रणमें जबतक हम उनके साथ यात्रा न कर सकेंगे, तबतक वे हमें पीड़ा देंगे और हमें सुखसे न सोने देंगे।

जबतक हम अँगरेज़ोंका आह्वान ग्रहण न करेंगे, जबतक उनके साथ हमारा मिलन सार्थक न होगा, तबतक उन्हें बलपूर्वक बिदा करनेकी शक्ति हममें नहीं है। जो भारतवर्ष अतीतमें अङ्कुरित हुआ है और भविष्यत्की ओर क्रमशः बढ़ता जा रहा है उसीके लिए अँगरेज़ यहाँ भेजे गये हैं। वह भारतवर्ष मनुष्यमात्रका भारतवर्ष है—उसमेंसे हम असमय ही अँगरेज़ोंको निकाल दें, ऐसा कौन सा अधिकार हमें है ? बृहत् भारतवर्षके 'हम' कौन हैं ? क्या वह 'हमारा ही' भारतवर्ष है ? यह 'हम' कौन है ? बंगाली है अथवा मराठा या पंजाबी ? हिन्दू है या मुसलमान ? एक दिन जो सम्पूर्ण सत्यताके साथ यह कह सकेंगे कि हम ही भारतवर्ष हैं, हम ही भारत-वासी हैं—उसी अखण्ड, बृहत् 'हम' में जो कोई सम्मिलित रहेंगे, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, अँगरेज़ हों या और कोई आगन्तुक,

उन्हींको यह आज्ञा प्रचार करनेका अधिकार होगा कि यहाँ कौन रहेगा और कौन नहीं ।

हमें अँगरेजोंके साथ अपना मिलन सार्थक करना होगा । महाभारतवर्ष गढ़नेके कामका यह भार आज हमारे ऊपर पड़ा है । हम विमुख होंगे, विच्छिन्न होंगे, कुछ भी ग्रहण नहीं करेंगे—यह कहकर हम कालके विधानको रोक नहीं सकेंगे, भारतके इतिहासको दरिद्र और वञ्चित नहीं कर सकेंगे ।

आजकल देशमें जो सबसे बड़े विद्वान् और मनीषी हुए हैं उन्होंने पश्चिमके साथ पूर्वको मिला डालनेहीके काममें जीवन व्यतीत किया है । इसका एक ज्वलन्त उदाहरण राजा राममोहनराय हैं । वे मनुष्यत्वकी भित्तिपर भारतवर्षको सारी पृथिवीके साथ मिला देनेके लिए एक दिन अकेले खड़े हुए थे । कोई प्रथा, कोई संस्कार उनकी दृष्टिको रोक नहीं सका था । अपने आश्चर्यमय उदार हृदय और उदार बुद्धिके द्वारा वे पूर्वको बिना छोड़े ही पश्चिमको ग्रहण कर सके थे । वे ही अकेले सब ओरसे नये बंगालकी स्थापना कर गये हैं । इस प्रकार उन्होंने स्वदेशके लोगोंके विरोधोंको स्वीकार करके हमारे ज्ञान और कर्मके क्षेत्रको पूर्वसे पश्चिमकी ओर फैला दिया है, हमको ‘ मनुष्य ’ का चिरन्तन अधिकार और सत्यका अबाध अधिकार प्रदान किया है । हमें यह जता दिया है कि हम सारी पृथिवीके हैं; बुद्ध, ईसा और महम्मदने भी हमारे ही लिए जन्मग्रहण और जीवनदान किया है । केवल भारतवर्षके ही ऋषियोंकी साधनाका फल हमारे लिए सञ्चित नहीं है; वरन् पृथिवीके किसी भी देशमें, जिन जिन महात्माओंने ज्ञानकी बाधाएँ दूर की हैं, जड़त्वकी

शृंखलाको खोलकर मनुष्यकी बँधी हुई शक्तिको मुक्त किया है, वे हमारे अपने ही हैं, उनको लेकर हममेंसे प्रत्येक मनुष्य धन्य होगा। राममोहनरायने भारतवर्षके चित्तको सङ्कुचित और प्राचीरबद्ध नहीं किया है, उसे उन्होंने देश और कालमें फैलाया, और भारतवर्ष और युरपके बीच पुल बाँध दिया, इसीसे भारतवर्षकी रचनाके काममें आज भी वे शक्तिके रूपसे विराजमान हैं। किसी अन्ध अभ्यास या किसी क्षुद्र अहङ्कारके वशमें हो, उन्होंने, मूर्खकी तरह महाकालके अभिप्रायके विरुद्ध विद्रोह नहीं किया था; जो अभिप्राय अतीतमें ही समाप्त नहीं हो चुका है, जो भविष्यत्की ओर भी जा रहा है, उन्होंने उसीकी जयपताका लेकर, वीरकी भाँति, विघ्न-बाधाओं पर चढ़ाई की थी।

दक्षिण भारतमें रानडेने पूर्व और पश्चिमके बीच पुल बाँधनेके काममें जीवन बिताया है। रानडेकी प्रकृतिमें वही सृजन-शक्ति और मिलनतत्त्व था जो मनुष्यको बाँधकर रखता है, समाजका संगठन करता है, असामञ्जस्यको दूर करता है और ज्ञान, प्रेम और इच्छा-शक्तिकी बाधाओंको दूर हटाता है। इसी कारण भारतवासियों आर अँगरेज़ोंके बीच नाना प्रकारके व्यवहारके विरोध और स्वार्थके झगड़े रहने पर भी वे अपने समयके सारे क्षोभों और सारी क्षुद्रताओंके ऊपर उठ सके थे। भारतवर्षके इतिहासके जो उपकरण अँगरेज़ोंके पास हैं उनके ग्रहण करनेका पथ जिसमें विस्तृत हो और जिसमें भारतवर्षकी सम्पूर्णता साधन करनेमें किसी प्रकारकी रुकावट न हो, इसी चेष्टामें उनका प्रशस्त हृदय और उदार बुद्धि बराबर लगी रही।

कुछ दिन हुए बंगालमें जिन महात्माकी मृत्यु हो गई, वे विवेकानन्द भी पूर्व और पश्चिमको दायें बायें रखकर बीचमें खड़े हो सके थे। उनके जीवनका उपदेश भारतवर्षके इतिहाससे पाश्चात्यको अलग रखकर भारतवर्षको सदाके लिए संकीर्ण संस्कारमें सङ्कुचित रख छोड़ना नहीं है। उनकी प्रतिभा ग्रहण, मिलन और सृजन करनेकी थी। उन्होंने भारतवर्ष और पश्चिमके बीच परस्पर साधनाओंके लेन-देनकी राह तैयार करनेमें ही अपना जीवन उत्सर्ग किया है।

जिस दिन बङ्किमचन्द्रने बङ्गदर्शन[1]में अकस्मात् पूर्व और पश्चिमके मिलन-यज्ञका आह्वान किया उसी दिनसे बङ्गसाहित्यमें अमरताका आवाहन हुआ है, उसी दिनसे बङ्गसाहित्य महाकालके अभिप्रायमें योगदान करके सार्थकताके पथपर अग्रसर हुआ है। देखते देखते बङ्गसाहित्य जो इतना बढ़ता जा रहा है उसका कारण यह है कि इस साहित्यने उन सब बनावटी बन्धनोंको तोड़ दिया है जिनने विश्वसाहित्यके साथ इसकी एकता होनेके रास्तेमें काँटे बिछा रक्खे थे। यह क्रमशः ही इस प्रकार रचित हो रहा है कि जिससे पश्चिमके ज्ञान और भावको सहजमें अपनाकर उन्हें ग्रहण कर सके। बङ्किमने जो कुछ रचना की है केवल उसीके लिए वे बड़े नहीं है। वे इस कारण भी बड़े हैं कि वे अपनी प्रतिभाकी सामर्थ्यसे बंगला साहित्यमें पूर्व और पश्चिमके आदान प्रदानके राजपथको भली भाँति मिला दे सके हैं। इसी मिलनतत्त्वने बङ्गसाहित्यके मध्यभागमें प्रतिष्ठित होकर इसकी सृष्टिशक्तिको जाग्रत कर दिया है।

---

१ बंगभाषाका एक पुराना मासिकपत्र। बंकिम बाबूके अधिकांश लेख और उपन्यास पहले पहल इसी पत्रमें निकले थे।

इसप्रकार हम चाहे जिधरसे देखें यही जान पड़ेगा कि आधुनिक भारतवर्षमें जिनमें 'मनुष्य' का महत्त्व प्रकाशित होगा, जो नये युगकी सृष्टि करेंगे, उनकी प्रकृतिमें ऐसी स्वाभाविक उदारता रहेगी जिसके कारण उनके जीवनमें पूर्व और पश्चिम परस्पर विरोधी अथवा एक दूसरेसे पीठित नहीं होंगे; उनमें पूर्व और पश्चिम एक साथ सफलता लाभ करेंगे।

शिक्षित सम्प्रदायके बहुतसे लोगोंका यह खयाल है कि भारतवर्षमें जो नाना जातियाँ एक साथ मिलनेकी चेष्टा कर रही हैं उनका उद्देश्य पोलिटिकल (राजनीतिक) बल लाभ करना है। इस तरह वे बड़ी चीज़को छोटीकी दासी समझ रहे हैं। भारतवर्षके हम सब मनुष्य मिल जायँगे, यह और सब उद्देश्योंसे बड़ा है, क्योंकि यह मनुष्यत्व है। हम जो मिल नहीं सकते हैं, इससे हमारे मनुष्यत्वकी मूलनीति नष्ट हो रही है। सब तरहसे हमारी शक्ति क्षीण हो रही है और हमारी राहमें सभी जगह बाधाएँ रुकावट डाल रही हैं। यह हमारा पाप है, इससे हमारा धर्म नष्ट हो रहा है और धर्मके नाशसे सर्वनाश हो रहा है।

जब हम धर्मबुद्धिसे इस मिलन-चेष्टाको देखेंगे तभी यह सार्थक होगी। पर धर्मबुद्धि तो किसी क्षुद्र अहङ्कार या प्रयोजनमें बद्ध नहीं है। इस बुद्धिके अनुगत होनेसे हमारी मिलन-चेष्टा केवल भारतवर्षकी छोटी छोटी जातियोंमें ही बद्ध नहीं होगी बल्कि यह अँगरेज़ोंको भी भारतवर्षीय बना लेनेमें निरन्तर लगी रहेगी।

इन दिनों भारतके शिक्षित साधारणोंमें—और शिक्षित ही क्यों अशिक्षितोंमें भी अँगरेज़ोंसे जो विरोध पैदा हुआ है, उसे हम किस भावसे

ग्रहण करें? उसमें क्या कुछ भी सत्य नहीं है? क्या यह केवल षड्यन्त्र करनेवाले थोड़ेसे आदमियोंका ही इन्द्रजाल है? भारतवर्षके महाक्षेत्रमें जिन विविध जातियों और नाना शक्तियोंका समागम हुआ है उनके संघात और सम्मिलनसे जो इतिहास संगठित होता जा रहा है, वर्त्तमान विरोधका भँवर क्या उसके सर्वथा प्रतिकूल है? इस विरोधका तात्पर्य क्या है, यह हमें समझना होगा।

हमारे देशके भक्तितत्त्वमें विरोध भी मिलन-साधनाका एक अङ्ग कहा गया है। लोकमें प्रसिद्ध है कि रावणने भगवानसे शत्रुता करके मुक्ति पाई थी। इसका अर्थ यह है कि सत्यके निकट हारनेसे अत्यन्त गंभीर रूपसे सत्यकी प्राप्ति हुआ करती है। बिना विरोध और बिना संशयके सहज ही सत्यको ग्रहण करनेसे वह सम्पूर्णरूपसे गृहीत नहीं हो सकता है। इसी कारण सन्देह और प्रतिवादसे घोर युद्ध करने पर ही वैज्ञानिक तत्त्वको प्रतिष्ठा मिलती है।

हमने एक दिन, युरपके निकट, मुग्धरूपसे जड़की तरह भिक्षा-वृत्ति अवलम्बन की थी; हमारी विचारबुद्धि बिल्कुल नष्ट हो गई थी। पर इस प्रकार वास्तविक लाभ नहीं किया जा सकता है। चाहे ज्ञान हो और चाहे राष्ट्रीय अधिकार, इनकी प्राप्तिमें उपार्जनकी अपेक्षा है—अर्थात् विरोध और व्याघातके बीच होकर आत्मशक्ति द्वारा प्राप्त करनेसे ही ये मिलते हैं—कोई इन्हें हमारे हाथमें उठाकर रख दे तो वे हमारे नहीं हो सकते हैं। जिस प्रकार ग्रहण करनेसे हमारा अपमान होता है, उस प्रकार ग्रहण करनेसे हमारी हानि ही होती रहती है।

इसीसे कुछ दिनोंसे पाश्चात्य शिक्षा और भावके प्रति हमारे मनमें एक विरोध उपस्थित हुआ है। एक प्रकारका आत्माभिमान उत्पन्न होकर वह हमें धक्का देकर बलपूर्वक अपनी ओर खींच रहा है।

महाकालके जिस अभिप्रायकी बातें ऊपर कही गई हैं उस अभिप्रायके अनुगत होनेहीसे इस आत्माभिमानका प्रयोजन हुआ था। हम बिना विचारे, बिना विरोध किये, दुर्बल और दीनकी तरह जो ग्रहण कर रहे थे, उसे जाँचकर, उसका मूल्य समझकर, अपना नहीं सकते थे, वह केवल बाहरी पोशाक बन रहा था, इसीसे यह हमपर पीछे लौटनेके लिए ताड़ना हुई है।

राममोहन राय पश्चिमके भावोंको अपना सके थे, इसका प्रधान कारण यह है कि पश्चिम उनको अभिभूत नहीं कर सका था—हरा न सका था, उनमें दुर्बलता नहीं थी। उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा-भूमिपर खड़े होकर बाहरकी सामग्री संग्रह की थी। भारतवर्षका ऐश्वर्य कहाँ है, सो उन्हें मालूम था और उस ऐश्वर्यको उन्होंने अपना लिया था; इसी लिए जब, जहाँसे जो कुछ उनको हाथ लगा उसकी जाँच करनेके लिए डंडी तराजू बराबर उनके हाथमें था; उन्होंने बिना दाम जाँचे बूझे, मूर्खकी तरह, अपनेको बिक्री करके अपनी मुट्ठी नहीं भरी थी।

जो शक्ति नये भारतके आदि अधिनायककी प्रकृतिमें सहज थी वह हममें नाना घात प्रतिघातों, क्रिया प्रतिक्रियाओंके परस्पर युद्धके बीचसे प्रकट होनेकी चेष्टा कर रही है। इसी कारण यह चेष्टा पर्याय-क्रमसे विपरीत सीमाके अन्तिम छोरतक जा पहुँची है। यह एकान्त अनुकूलता और एकान्त प्रतिकूलताके द्वारा हमारी गतिको ठोकरें मार मारकर हमें अपने लक्ष्य-पथमें ले जा रही है।

आजकल अँगरेज़ और भारतवासियोंके बीच जो विरोध उत्पन्न हुआ है उसका एक कारण इसी प्रतिक्रियाका प्रभाव है;—अँगरेज़ोंके ज्ञान और शक्तिको बराबर निश्चेष्ट-भावसे सिर झुकाकर ग्रहण करते

करते हमारी अन्तरात्मा पीडित हो चली थी। उसी पीड़ाकी मात्रा अलक्षितरूपसे बढ़ती और जमती गई जिससे आज हठात् देशका अन्तःकरण अत्यन्त वक्र हो गया है।

किन्तु केवल यही एक कारण नहीं है। भारतवर्षके घरमें पश्चिम आ घुसा है और उसे हम किसी प्रकार व्यर्थ लौटा नहीं सकते हैं। तब उसे अपनी शक्तिसे अपना लेना होगा। यदि हमारी ओर अपनानेवाली आत्मशक्तिकी कमी होगी, तो उससे कालके अभिप्रायका वेग रुकावट पाकर विप्लव उपस्थित करेगा। फिर, यदि दूसरी ओर पश्चिम सत्यरूपसे अपनेको प्रकट करनेमें कृपणता करेगा उससे भी विक्षोभ उपस्थित होगा।

अँगरेजोंमें जो श्रेष्ठ और सत्य है, उसके साथ यदि हमारा संस्रव नहीं हो, यदि हम अँगरेजोंमें प्रधानतः सैनिक या वणिक्भावका ही परिचय पावें अथवा यदि केवल शासनयन्त्रचालकरूपसे उन्हें ऑफ़िसोंमें यन्त्रारूढ़ देखा करें; यदि उनके साथ हमारा उस क्षेत्रमें संस्पर्श न हो जिसमें मनुष्य मनुष्यके साथ आत्मीयकी तरह मिलकर एक दूसरेको हृदयसे ग्रहण कर सकता है, यदि परस्पर अन्तराय पड़कर अलग अलग रहें, तो हम एक दूसरेके लिए निरानन्दका विषय अवश्य ही होंगे। ऐसे स्थलमें प्रबल पक्ष सिडीशन[१] (Sedition) का आईन बनाकर दुर्बल पक्षके असन्तोषको लोहेकी ज़ंजीरोंमें बाँधकर रखनेकी चेष्टा कर सकता है; किन्तु यह असन्तोषको बाँधकर रखना हुआ, दूर करना नहीं। अथ च यह असन्तोष एक पक्षका नहीं है। भारतवासियोंसे अँगरेज़ोंको कोई आनन्द नहीं है। अँगरेज़ भारतवासियोंके अस्तित्वको क्लेशकर समझकर उनको सब तरहसे दूर रखनेकी चेष्टा करते हैं। एक

१ राजद्रोह।

दिन डेविड हेअर[1] जैसे महात्मा पुरुष बहुत निकट आकर अंगरेज़-चरित्रके महत्त्वको हमारे सामने उपस्थित कर सके थे। उस समयके छात्रोंने सचमुच अँगरेज़ोंको अपना हृदय अर्पण कर दिया था। आज कलके अँगरेज़ अध्यापक स्वजातिमें जो श्रेष्ठ है उसका उदाहरण दिखलाना तो बहुत दूर, उल्टे अँगरेज़ोंके आदर्शको हमारे सामने छोटा दिखला कर, लड़कपनसे ही हमारे मनको अँगरेज़ोंकी ओरसे विमुख कर देते हैं। इसका फल यह हुआ है कि पहलेके छात्र अंगरेज़ी साहित्य और अँगरेज़ी शिक्षाको जिस प्रकार मनसे ग्रहण करते थे, आजकलके छात्र वैसा नहीं करते; वे ग्रास करते हैं, भोग नहीं करते। उस समयके छात्र जिस प्रकार आन्तरिक प्रेमसे शेक्सपियर और बायरनके काव्य-रसमें चित्तको सींचकर रखते थे, आज वैसा नहीं देख पड़ता है। साहित्यके द्वारा अँगरेज़ जातिके साथ जो प्रेमका सम्बन्ध सहजमें हो सकता है, उसमें इन दिनों बाधा पड़ गई है। अध्यापक, मैजिष्ट्रेट सौदागर पुलिस-कर्मचारी आदि सभी प्रकारके सम्पर्कोंमें अँगरेज़ अपनी अंगरेज़ी सभ्यताके चरम विकाशका परिचय निर्बाध रूपसे हमारे निकट स्थापित नहीं कर रहे हैं। इससे भारतवर्षमें अंगरेज़ोंके आनेका जो

---

१ डेविड हेअर बड़े महात्मा थे। उन्होंने बंगालमें शिक्षा फैलानेका खूब प्रयत्न किया था। कई कॉलेज और स्कूल स्थापित किये थे। उनका स्थापित किया हुआ कलकत्तेका हेअर स्कूल (Hare School) अब तक बंगालके सर्वश्रेष्ठ स्कूलोंमेंसे है। उन्हींके प्रयत्नका फल हिन्दू कॉलेज था जो आजकल प्रेसिडेन्सी कालेज (Presidency College) के नामसे प्रसिद्ध है और जो बंगाल ही क्यों, सारे भारतवर्षमें सबसे बड़ा कालेज समझा जाता है। डेविड हेअर राजा राममोहन रायके बड़े सहायक थे।

सर्वश्रेष्ठ लाभ है उससे वे हमें वञ्चित कर रहे हैं; हमारी आत्मशक्तिको बाधाग्रस्त और आत्मसन्मानको खर्व कर रहे हैं। सुशासन और अच्छे आईन ही मनुष्यके लिए सबसे बड़े लाभ नहीं हैं। ऑफ़िस, अदालत, आईन और शासन तो मनुष्य नहीं हैं। मनुष्य मनुष्यको चाहता है। यदि वह उसको पाजावे तो अनेक दुःख, अनेक अभाव सहनेको भी वह राजी हो जाती है। मनुष्यके बदले विचार न्याय और आईन, रोटीके बदले पत्थरकी भाँति हैं। पत्थर दुर्लभ और मूल्यवान् हो सकता है, पर उससे भूख नहीं बुझती।

पूर्व और पाश्चिमके सम्यक् मिलनमें इसी कारण बाधाएँ उपस्थित हो रही हैं और उसीसे आज इतने उत्पात हो रहे हैं। निकटमें रहेंगे पर मिलेंगे नहीं, ऐसी अवस्था मनुष्यके लिए असह्य और अनिष्टकर है। इस लिए एक दिन न एक दिन इसके प्रतीकारकी चेष्टा दुर्दमनीय हो ही जायगी। यह विद्रोह हृदयका विद्रोह है, इस कारण यह फलाफलका विचार नहीं करता है, यह आत्महत्या करनेको भी प्रस्तुत रहता है।

यह सब होनेपर भी यह सच है कि यह विद्रोह क्षणस्थायी है। कारण यह कि पश्चिमके साथ हमें सच्चे भावसे मिलना पड़ेगा और उसमें जो कुछ ग्रहण करनेके योग्य है उसे बिना ग्रहण किये भारत-वर्षको छुटकारा नहीं है। जबतक फल परिणत नहीं होगा, तबतक उसे डंठलमें लगा ही रहना पड़ेगा—और डंठलमें नहीं लगे रहनेसे भी उसकी परिणति नहीं होगी।

अब एक बात और कहकर मैं इस प्रबन्धको समाप्त करूँगा। अँग-रेज़ोंमें जो कुछ श्रेष्ठ है उसे जो वे सम्पूर्ण रूपसे भारतवर्षमें प्रकाशित नहीं कर सकते हैं उसके लिए हम भी दायी हैं। जब हमारी दीनता

दूर होगी तब उनकी कृपणता भी जाती रहेगी। बाइबलमें लिखा है कि जिसको है, उसीको दिया जायगा।

हमें सब ओरसे शक्तिशाली होना पड़ेगा और तभी अँगरेज़ भारतवर्षको जो देने आये हैं, दे सकेंगे। जबतक वे हमारी अवज्ञा करेंगे, तबतक अँगरेज़ोंके साथ हमारा मिलन नहीं हो सकेगा। यदि हम उनके दरवाज़ेपर खाली हाथ जा खड़े होंगे तो हमें बार बार लौटना पड़ेगा। अँगरेज़ोंके पास जो सबसे बड़ा और सबसे अच्छा है वह आरामसे पानेकी चीज़ नहीं है, उसे हमें अध्यवसायपूर्वक जीतना पड़ेगा। यदि अँगरेज़ दयाकरके हमारे प्रति भले बन जायँगे तो यह हमारे लिए अच्छा न होगा। हम अपने मनुष्यत्वके द्वारा उनके मनुष्यत्वको जगावेंगे। इसे छोड़ सत्यके ग्रहण करनेका और कोई सहज रास्ता नहीं है। यह बात याद रखनी पड़ेगी कि अँगरेज़ोंके पास जो कुछ सर्वश्रेष्ठ है, वह उन्हें भी बड़े दुःखसे मिला है, काठिन मन्थन करनेपर वह रत्न प्राप्त हुआ है; यदि हम उसका यथार्थ साक्षात् लाभ करना चाहेंगे तो हमको भी शक्तिकी आवश्यकता होगी। हममेंसे जो लोग उपाधि, सम्मान या नौकरीके लोभसे हाथ जोड़, सिर झुका, अँगरेज़ोंके दरबारमें जा खड़े होते हैं, वे अँगरेज़ोंकी क्षुद्रताको ही आकर्षण करते हैं, और भारतवर्षके प्रति अँगरेज़ोंके प्रकाशको विकृत कर देते हैं। दूसरी ओर, जो बिना विचारे असंयत क्रोधसे पागल होकर अँगरेज़ोंपर वार करना चाहते हैं वे अँगरेज़ोंकी पाप-प्रकृतिको जगाते हैं। यदि यह सच हो कि भारतवर्ष अत्यन्त अधिक परिमाणमें अँगरेज़ोंके लोभ, उद्धतता, कापुरुषता और निष्ठुरताको जगा रहा है तो इसके लिए अँगरेज़ोंको दोषी ठहरानेसे काम नहीं चलेगा, इस अपराधका प्रधान अंश हमारे ही मत्थे पड़ेगा।

अँगरेज़ोंके देशमें उनकी समाज उनकी नीचताको दबाकर उनके

महत्त्वको ही उद्दीपित रखनेके लिए चारों ओर नाना प्रकारकी चेष्टाएँ सदा करती रहती है, समाजकी सारी शक्ति प्रत्येक व्यक्तिको ऊँचे स्थानपर पहुँचाकर उसे वहीं रखनेके लिए अश्रान्तभावसे प्रयत्न करती रहती है; इस तरह अपनी शक्तिसे जहाँतक पूरा फल पाना सम्भव है अँगरेज़ समाज सदा सजग और सचेष्ट रहकर बलपूर्वक उतना फल अदा कर लेती है।

इस देशमें अँगरेज़ी समाजकी वह शक्ति उनपर पूरे बलसे काम नहीं कर सकती है। यहाँ अँगरेज़ोंका पूरे मनुष्यके भावसे किसी भी समाजके साथ सम्बन्ध नहीं है। यहाँकी अँगरेज़-समाजके लोग चाहे वे सिविलियन हों, वणिक् हों, अथवा सैनिक, अपने अपने विशिष्ट कार्य-क्षेत्रकी सङ्कीर्णतासे बँधे हुए हैं। उन सब क्षेत्रोंके सारे संस्कार सदा उनके चारों ओर कठिन दुर्ग बनाये रहते हैं, बृहत् मनुष्यत्वके संस्पर्शमें लाकर इस दुर्गके नाश करनेके लिए कोई शक्ति प्रबलरूपसे उनके चारों ओर उद्योग नहीं करती है; वे इस देशकी वायुसे केवल कड़े सिविलियन, पक्के सौदागर और पूरे सैनिक बन रहे हैं; इसी कारण इनके संस्रवको हम मनुष्यके संस्रवकी तरह अनुभव नहीं कर सकते हैं। इसीलिए जब कोई सिविलियन हायकोर्टके जज्जके आसनपर बैठता है, तब हम हताश हो जाते हैं; क्योंकि उस समय हम जानते हैं कि इस आदमीसे हम यथार्थ विचारकका विचार नहीं पावेंगे, सिविलियनका ही विचार पावेंगे; उस विचारमें जहाँ न्याय-धर्मसे सिविलियन-धर्मका विरोध होगा वहाँ सिविलियनका ही धर्म विजयी होगा। यह सिविलियन धर्म अँगरेज़ोंकी श्रेष्ठ प्रकृतिके भी विरुद्ध है और भारतवर्षके भी प्रतिकूल है।

फिर, जिस भारतवर्षके साथ अँगरेज़ोंका कारबार है उस भारतवर्षकी समाज भी अपनी दुर्गति और दुर्बलताके कारण अँगरेज़ोंके

अँगरेज़त्वको जगाये रखनेमें असमर्थ हो रही है; इसलिए इस देशमें यथार्थ अँगरेज़के आनेसे भारतवर्षको जो फल लाभ होता उससे वह वञ्चित हो रहा है। इसी कारण हमें पश्चिमके वणिक्, सैनिक और ऑफ़िस अदालतके बड़े साहबोंसे ही भेंट होती है पश्चिमके '**मनुष्य**' के साथ नहीं। इस देशके विप्लव और विरोध और हमारे सारे दुःख और अपमान पश्चिमके इसी मनुष्यत्वके प्रकाश न होनेके कारण हैं, और यह जो प्रकाशित नहीं हो रहा है अथवा इसका प्रकाश जो विकृत हो जाता है उसका कारणस्वरूप जो पाप हमारी ओरसे है उसे हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा। कहा है "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"—परमात्मा बलहीनके निकट प्रकाशित नही होते हैं। इसी तरह कोई भी महत् सत्य बलहीनको नहीं प्राप्त हो सकता है। जो व्यक्ति देवताको चाहता है उसकी प्रकृतिमें देवताका गुण रहना आवश्यक है।

कड़ी बात बोलनेसे या अकस्मात् दुःसाहसका काम करनेसे बल प्रकाशित नहीं होता है। **त्यागके द्वारा ही बलका परिचय मिलता है।** जबतक भारतवासी त्यागशीलताके द्वारा कल्याणको वरण नहीं कर लेंगे, भय, स्वार्थ और आरामको सारे देशके हितके लिए त्याग नहीं सकेंगे, तबतक अँगरेज़ोंसे जो माँगेंगे वह भिक्षा माँगना ही कहलायगा और उनसे जो पावेंगे उससे उनकी लज्जा और अक्षमता और बढ़ेगी। जब हमें अपने देशको अपनी चेष्टा और अपने त्यागके द्वारा अपना लेंगे, जब हम देशकी शिक्षा और स्वास्थ्यके लिए अपनी सारी सामर्थ्यका प्रयोग कर, देशके सब प्रकारके अभावमोचन और उन्नतिसाधन द्वारा अपने देशपर सच्चा अधिकार जमा लेंगे, तब हम अँगरेजोंके निकट दीन बनकर नहीं खड़े होंगे।

तब हम भारतवर्षमें अँगरेज़ोंके सहयोगी होंगे, तब अँगरेज़ोंको हमारे साथ मिलकर चलना पड़ेगा, तब हमारी ओर दीनता न रहनेसे अँगरेजोंकी ओरसे भी हीनता प्रकाशित नहीं होगी। जब तक हम व्यक्तिगत या सामाजिक मूढ़ताके कारण अपने देशके लोगोंके प्रति मनुष्योचित व्यवहार न कर सकेंगे, जब तक हमारे देशके जमींदार अपनी प्रजाको अपनी सम्पत्तिका अङ्गमात्र समझेंगे, हमारे देशका प्रबल पक्ष दुर्बलको पैरोंके नीचे दबा रखनेको ही सनातन रीति समझेगा, ऊँचे वर्णके लोग नीचेवर्णके लोगोंके प्रति पशुसे भी अधिक घृणा करेंगे; तबतक हम अँगरेज़ोंसे सद्व्यवहार पानेका दावा नहीं कर सकेंगे; तबतक हम अँगरेज़ोंकी प्रकृतिको सच्चे भावसे नहीं जगा सकेंगे; और भारतवर्ष वञ्चित और अपमानित ही होता रहेगा। आज भारतवर्ष सब ओरसे—शास्त्रमें, धर्ममें और समाजमें,—आप ही अपनेको वञ्चित और अपमानित कर रहा है; अपनी आत्माको सत्य और त्यागके द्वारा उद्बोधित नहीं कर रहा है, इसीसे दूसरोंसे जो पाना है उसे नहीं पा रहा है। इसीलिए भारतवर्षमें पश्चिमके साथ सम्पूर्ण मिलन नहीं हो रहा है, उस मिलनका पूरा फल नहीं फल रहा है, उस मिलनसे हम केवल अपमान और दुःख भोग रहे हैं। अँगरेज़ोंको छल बलसे दूर हटाकर हम इस दुःखसे मुक्ति नहीं पावेंगे। अँगरेज़ोंके साथ भारतवर्षका संयोग पूर्ण होनेसे ही इस संघातका सारा प्रयोजन समाप्त होगा। उस समय भारतवर्षमें देशके साथ देशका, जातिके साथ जातिका, ज्ञानके साथ ज्ञानका, चेष्टाके साथ चेष्टाका मिलन होगा; भारतवर्षके इतिहासका जो पर्व आजकल चल रहा है वह उस समय समाप्त हो जायगा और पृथिवीके महत्तर इतिहासमें जा मिलेगा।

चिट्ठी-पत्री ।

(१)

चिरञ्जीव बाबू नवीनकिशोर !

आजकलके अदब क़ायदे, रीत-रस्म मुझे मालूम नहीं। इसी कारणसे तुम्हारे साथ पहले पहल बातचीत अथवा चिट्ठीपत्रीका व्यवहार करनेमें कुछ डर सा मालूम होता है । पहले हम बातचीतमें सबसे प्रथम बापका नाम पूछा करते थे, पर सुनता हूँ कि आजकल बापका नाम पूछनेका दस्तूर नहीं है। सौभाग्यसे तुम्हारे बापका नाम मुझसे छिपा नहीं है, क्योंकि मैंने ही उसका नामकरण किया था। उसका नाम अच्छा तो नहीं रक्खा गया; पर 'गो·वर्धन' नाम क्यों रक्खा गया इसका पता अब चला है। देवताओंको यह मालूम था कि तुम्हारे 'वर्द्धन' करने अर्थात् पालन पोषण कर बड़ा करनेका भार उसीके मत्थे पड़ेगा। मालूम होता है कि इसीसे जब उस दिन न्यायरत्नजीने तुम्हारे पिताका नाम तुमसे पूछा था तो तुम्हारे वदनमें आग लग गई थी। अच्छा तो अब तुम अपने पिताका एक अच्छासा नाम रख लो; मैं अपना रक्खा हुआ 'गो-वर्द्धन' नाम फेरे लेता हूँ।

सच बात यह है कि पुराने समयमें हम लोग नामके विषयमें बहुत नहीं सोचते थे। हो सकता है कि यह हमारी असभ्यताका परिचायक हो; पर हम समझते थे कि 'नाम' आदमीको बड़ा नहीं करता बल्कि आदमी ही 'नाम'को बड़ा बनाता है। बुरा काम करनेसे आदमीकी निन्दा होती है और भला काम करनेसे प्रशंसा होती है।

पिता केवल एक ही नाम रख सकता है; उस नामको भला या बुरा बनाना लड़केके ही हाथमें है। ज़रा सोचो तो, प्राचीन कालके बड़े बड़े नाम सुननेमें कुछ बहुत मधुर नहीं हैं—युधिष्ठिर, भीष्म, द्रोण, भरद्वाज, शाण्डिल्य, जन्मेजय, वैशाम्पायन इत्यादि। परन्तु ये सब नाम अक्षय-बटकी भाँति आजतक भारतवर्षके हृदयपर अटलरूपसे विराजमान हैं। आजकलके उपन्यासोंमें ललित, नलिन, मोहन प्रभृति कितने ही मीठे मीठे नाम आविर्भूत हो रहे हैं; परन्तु उन्हें आजकलकी पाठक-पिपीलिकायें घड़ी दो घड़ीमें ही साफ़ कर देती हैं; सुबहका नाम शाम तक भी नहीं रहता। खैर जो हो, हम नामका बहुत ख़याल नहीं किया करते थे। तुम कहते हो, यह हमारी भूल है। बाबू, इसके लिए विशेष चिन्ता न करना; हम अब शीघ्र ही मरेंगे और हमारे साथ ही वङ्गसमाजके सारे दोष भी जड़से मिट जायँगे।

पहले ही कह चुका हूँ, कि आजकलके रीत-रस्म मुझे मालूम नहीं। पर मैं देखता हूँ कि आजकल तो अदब क़ायदा कुछ है ही नहीं; यह सब हमारे ही समयमें था। आजकल बापको प्रणाम करनेमें तो लोगोंको लाज लगती है; बन्धु बान्धवसे मिलनेमें सङ्कोच होता है; किन्तु बड़ोंके सामने तकिया लगाये ताश फेंटनेमें शर्म नहीं आती; रेलगाड़ीमें जिस बेंचपर पाँच आदमी बैठे होते हैं उस पर दोनों पैर चढ़ा देनेमें जी नहीं हिचकता। हाँ यह हो सकता है कि आज कल अदब क़ायदेकी आवश्यकता ही नहीं है; अब तो सहृदयताका प्रादुर्भाव हो गया है। इसीसे अब कोई आदमी अपने पड़ोसीकी ख़ैर खबर नहीं रखता और दुःखके समय कोई किसीको सहायता नहीं करता; इसीसे नाचरंगमें रुपये उड़ाये जाते हैं किन्तु दश अना-

थोंका पालन नहीं किया जाता; इसीसे माबाप तो दुःखसे दिन काटते हैं और बेटा अलग होकर चैनसे ज़िन्दगी बसर करता है; इसीसे अपनी तो बहुत सामान्य आवश्यकताके लिए भी बड़ी बड़ी फ़िक्रें की जाती हैं परन्तु परिवारके लोगोंको बड़ीसे बड़ी ज़रूरत होनेपर भी उत्तर दिया जाता है कि—' रुपया नहीं है '। यही है आज कलकी सहृदयता ! हृदयके दुःखसे मैंने बहुतसी बातें कह डालीं। मैंने कॉलेजमें नहीं पढ़ा है, इसलिए मुझे यह सब कहनेका कोई अधिकार नहीं है। तौ भी, जब तुम मेरी निन्दा करनेमें कुछ उठा नहीं रखते तब मैं भी तुम्हारे विषयमें जो दो एक बातें कहूँ उन पर ज़रा कान दो।

चिट्ठी लिखने बैठते ही मेरे मनमें पहला प्रश्न यही उठा कि कैसे आरम्भ करूँ। एक बार मनमें हुआ कि ' माइ डियर नाती ' (My dear nati) लिखूँ; पर यह सहा नहीं गया; पीछे सोचा बंगलामें लिखूँ—' मेरे प्रिय नाती; ' किन्तु यह भी बूढ़ेके इस सरकीके क़लमसे न निकला। झट लिख बैठा–' परमशुभाशीर्वादराशयः सन्तु '। लिखा तो सही, पर पीछे पढ़कर मैंने एक साँस ली और सोचने लगा कि यदि लड़के आजकल हमें प्रणाम नहीं करते हैं, तो क्या अब हमको भी आशीर्वाद देना छोड़ देना चाहिए। भाई, हम तो यही चाहते हैं कि तुम्हारा मंगल हो। हमारा जो होना था हो गया। तुम हमको प्रणाम करो या न करो, इसमें हमारा हानिलाभ कुछ नहीं है, तुम्हारा ही है। भक्ति करनेमें जिन्हें लज्जा आती है उनका कभी मंगल नहीं होता। बड़ोंके निकट नम्र होकर ही मनुष्य बड़ा होना सीखता है; केवल सिर ऊँचा करनेसे कोई बड़ा नहीं हो सकता। जो सोचता है कि पृथिवीमें मुझसे कोई बड़ा नहीं है,

मैं ही सबसे ज्येष्ठ हूँ, मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ, वह वास्तवमें सबसे छोटा है। उसका हृदय इतना क्षुद्र है कि वह अपनेसे बड़ी वस्तुकी कल्पना तक नहीं कर सकता है। तुम कहोगे कि "तुम मेरे पिता-मह होनेहीसे मुझसे बड़े हो गये, यह कोई बात नहीं।" पर क्या मैं तुमसे बड़ा नहीं हूँ? तुम्हारे पिता मेरे स्नेहसे पले हैं, इसलिए मैं तुमसे बड़ा हूँ। मैं तुम्हें प्यार कर सकता हूँ, इस लिए तुमसे बड़ा हूँ; हृदयसे मैं तुम्हारा मंगल चाहता हूँ, इससे भी मैं तुमसे बड़ा हूँ। माना कि तुमने मुझसे २, ४ अँगरेज़ी किताबें अधिक पढ़ी हैं, पर इससे क्या होता जाता है। यदि तुम १८००० वेब्स्टर (Webster) डिक्शनरियोंके ढेरपर खड़े होगे तो भी तुम्हें मेरे हृदयके नीचे रहना पड़ेगा; तब भी मेरे हृदयस्त्रोतसे तुम्हारे माथेपर आशीर्वाद बरसता रहेगा। पुस्तकोंके पर्व्वतपर चढ़कर तुम मुझे नीची दृष्टिसे देख सकते हो, अपनी आँखोंकी असम्पूर्णताके कारण मुझे तुच्छ समझ सकते हो; पर मुझे स्नेहकी दृष्टिसे कदापि नहीं देख सकते। जो मनुष्य बिना सङ्कोचके सिर झुका कर प्रेमका आशीर्वाद ग्रहण करता है वह धन्य है, उसका हृदय उर्वर खेतकी भाँति फल-फूलसे शोभित होता है। और यदि मनुष्य बालूके ढेरकी तरह सिर ऊँचा कर प्रेमाशीर्वादकी उपेक्षा करता है तो वह उसकी शून्यता, शुष्कता और श्रीहीनता है; उसका मरुभूमितुल्य मस्तक मध्याह्न-कालके सूर्यकी ज्योतिसे जलता रहता है। ख़ैर जो हो, मैं तुम्हें सौ बार 'परमशुभाशीर्वादराशयः सन्तु' लिखूँगा, तुम चिट्ठी पढ़ो या न पढ़ो।

तुम भी जब मेरे नाम चिट्ठी लिखो, तब उसे प्रणामपूर्वक आरम्भ करना। तुम कह सकते हो कि "यदि मुझे भक्ति न हो तो मैं क्यों

प्रणाम करने लगा । मैं इन सब असभ्य आचार व्यवहारोंसे सम्बन्ध नहीं रखता ।" पर यदि यही सच है तो तुम सारे संसारको 'माइ डियर' (My dear) क्यों लिखते हो ? मैं बूढ़ा, तुम्हारा दादा, साढ़े तीन महीनेसे खाँसीकी बीमारीसे मर रहा हूँ और तुमने एक बार भी मेरी खोज खबर नहीं ली; पर समस्त संसारके आदमी तुम्हारे इतने प्रिय हो गये कि तुम्हें बिना 'माइ डियर' लिखे चैन नहीं पड़ता । तो 'माइ डियर' लिखना भी क्या एक दस्तूर मात्र नहीं है ? अन्तर इतना ही है कि एक है अँगरेज़ी दस्तूर और दूसरा बंगला । तब यदि दस्तूरके ही अनुसार चलना पड़ा तो क्या बंगालीके लिए बंगला दस्तूर ही अच्छा नहीं है ? तुम कह सकते हो कि "बंगला या अँगरेज़ी किसी दस्तूरके अनुसार मैं न चलूँगा, मैं केवल अपने हृदयका अनुयायी हूँ।" यदि यही तुम्हारा मत हो, तो तुम 'सुन्दर बन'में जाकर रहो; मनुष्य समाजमें रहनेका प्रयोजन नहीं है । प्रत्येक मनुष्यका कुछ कर्त्तव्य है और उसी कर्त्तव्यकी शृङ्खलासे समाज बँधी हुई है । यदि मैं अपना कर्त्तव्य अच्छी तरह न करूँ तो तुम अपना कर्त्तव्य भी अच्छी तरह नहीं कर सकते। दादाके जिसतरह कई कर्त्तव्य हैं उसीतरह पोतेके भी कई कर्त्तव्य हैं। तुम यदि मेरी वश्यता स्वीकार करके मैं जो कुछ कहूँ वही करो, तो मैं भी तुम्हारेलिए जो कुछ करना उचित है भली भाँति कर सकता हूँ । पर यदि तुम कहो कि "मेरे मनमें भक्तिका उदय तो होता ही नहीं, तब दादाकी बातों पर क्यों कान दूँ" तो इससे तुम्हारा ही काम बिगड़ता है और साथ ही मेरे कर्त्तव्यपालनमें भी व्याघात पहुँचता है। तुम्हें देखकर तुम्हारे छोटे भाई भी मेरी बातें न सुनेंगे और मुझसे दादाका काम

भी कुछ करते न बनेगा। इसी कर्त्तव्य-पाशमें बाँध रखनेके लिए–प्रत्येक व्यक्तिको अपने अपने कर्त्तव्यका सर्वदा स्मरण दिलाते रहनेके लिए समाजमें बहुतसे नियम दस्तूर रक्खे गये हैं। सिपाहियोंको जिसतरह बहुतसे नियमोंसे बद्ध रहना पड़ता है, नहीं तो वे युद्धके लिए प्रस्तुत नहीं हो सकते, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यको हज़ारों रीति-रस्मोंके बन्धनोंसे बँधा रहना पड़ता है, नहीं तो वह समाजके कार्य पालनके लिए प्रस्तुत नहीं होसकता। अपने जिन बड़ोंको तुम सदा प्राणम करते हो, जिनके लिए चिट्ठी-पत्री तथा सम्भाषणमें आदर भक्ति दिखलाते हो, जिनको देखकर तुम खड़े हो जाते हो; उनकी, तुम इच्छा करनेपर भी, हठात् अवमानना नहीं कर सकते। हज़ारों दस्तूरोंके पालन करनेसे तुम्हें एक ऐसी शिक्षा प्राप्त हो जाती है कि बड़ोंका आदर करना तुम्हारे लिए सहज हो जाता है और उनका आदर न करना तुम्हारी शक्तिके बाहर हो जाता है। हम अपने पुराने दस्तूरोंको छोड़कर इसी शिक्षासे वञ्चित हो रहे हैं। भक्ति और प्रेमका बन्धन टूटता जा रहा है। पारिवारिक सम्बन्ध शिथिल हो रहा है। समाज उच्छृङ्खल हो गया है। तुम दादाको विना प्रणाम किये ही चिट्ठी लिखना आरम्भ करते हो, यह तुमको एक बहुत ही सामान्य बात मालूम होती होगी; पर इसे तुम जितनी सामान्य समझते हो यह उतनी सामान्य नही है। कितने ही दस्तूर हमारे हृदयसे ऐसे संलग्न हैं कि यह कहना कठिन है कि उनका कितना अंश दस्तूर है और कितना हृदयका कार्य है। हम स्वाभाविक भक्तिसे क्यों प्रणाम करते हैं? प्रणाम करना भी तो एक दस्तूर ही है। ऐसे भी देश हैं जहाँ लोग भक्तिसहित प्रणाम करनेके बदले

कुछ और करते हैं। हम बड़ोंके सामने प्रणाम किये ही बिना क्यों नहीं जा खड़े होते? प्रणाम यथार्थमें क्या है? भक्तिका यह बाह्यलक्षणस्वरूप एक प्रकारका अङ्गव्यापार हमारे देशमें बहुत दिनोंसे चला आता है। जिसपर हमारी भक्ति होती है, उसके प्रति स्वभावतः हमें अपनी हार्दिक भक्ति दिखलानेकी इच्छा होती है। प्रणाम करना केवल उसी भक्ति दिखानेका एक उपाय है। यदि मैं किसी भक्ति-भाजन सज्जनके पास जाकर प्रणामके बदले भक्तिपूर्वक तीन बार ताली बजाऊँ तो जिन्हें मैं अपनी भक्ति दिखाना चाहता हूँ वे मेरा भाव कुछ नहीं समझेंगे; वे इससे उल्टा अपना अपमान समझ सकते हैं। परन्तु यदि भक्ति दिखानेके लिए पहलेसे ताली बजानेका ही नियम होता तो निस्सन्देह प्रणाम करना ही दोषका विषय होता। अतएव दस्तूरको छोड़कर हम अपने हृदयका भाव प्रकाश नहीं कर सकते; प्रत्युत हृदयका अभाव ही प्रकट करते हैं।

इसलिए मुझे प्रणामपूर्वक चिट्ठी लिखना, भक्ति हो या न हो। देखनेमें तो अच्छा लगेगा। तुम्हें देख और भी दस आदमी अपने दादाओंको भद्रतापूर्वक चिट्ठी लिखना सीखेंगे और क्रमशः बड़ोंकी भक्ति करना भी सीखेंगे।

आशीर्वादक,
श्रीषष्ठीचरणदेव शर्मा।

---

(२)

श्रीचरणकमलयुगलेषु ।

और भी भक्ति चाहिए तो कहो 'युगल' में और एक 'युगल' जोड़ दूँ। दादा! तुम्हारा अन्त मिलना कठिन है; बहुत दिनोंसे तो तुम हमसे हँसी ठट्टा करते चले आते थे, परन्तु आज हठात् भक्ति अदा करनेके लिए एक परवाना निकाल बैठे हो, इसका अर्थ क्या है ? मैंने देखा है कि जबसे तुम्हारे सामनेके दो दाँत गिर गये हैं तबसे तुम्हारे मुँहमें कोई बात रुकती ही नहीं है। यद्यपि तुम्हारे दाँत टूट गये हैं पर उनकी तेज़ धार तुम्हारी जीभपर अब भी विद्यमान है । अब तुम पहलेकी तरह रोहू मछलीका मुंड नहीं चबा सकते हो, इसीलिए अपने निर्दोष नाती पोतों पर ही उस दंशनसुखका अनुभव कर लेते हो । तुम्हारी बेदाँतकी हँसी मुझे बड़ी अच्छी लगती है। किन्तु तुम्हारा बेदाँतका काटना उतना अच्छा नहीं मालूम होता ।

तुम यह प्रमाणित करना चाहते हो कि तुम्हारे समयमें जो कुछ था सब अच्छा था और हमारे समयमें जो है सब ख़राब है । इस विषयमें मैं भी दो एक बातें कह देना चाहता हूँ । यदि इससे तुम्हारे अदब-क़ायदेका कुछ अतिक्रम हो तो माफ़ करना। मैं जो कुछ करता हूँ वह तुम्हारी दृष्टिमें बेअदबी है, इसीसे डर लगता है । तुम्हें वैसे तो बहुत कम दीखता है, पर पोतोंके दोष बिना चश्मेके ही ख़ूब साफ़ देख पड़ते हैं ।

जिस आदमीका जिस समयमें जन्म होता है उस समयपर यदि उसको प्रेम न हो तो वह उस कालके उपयोगी काम नहीं कर सकता । जो समझता है कि अतीत काल बहुत अच्छा था और

वर्तमान समय अति हेय है, उसमें कार्य करनेकी शक्ति नहीं रह जाती; वह केवल भूतकालके स्वप्न देखता रहता है और लम्बी लम्बी साँसें लिया करता है; केवल अतीतत्वका प्राप्त होना ही उसको वाञ्छनीय रह जाता है। जिस प्रकार अपना देश है उसी प्रकार अपना समय भी है। जिस प्रकार स्वदेशको प्यार न करनेसे स्वदेशकी सेवा नहीं हो सकती, उसी प्रकार स्वकालपर अनुराग न रखनेसे स्वकालका कार्य नहीं किया जासकता। यदि तुम सर्वदा स्वदेशकी निन्दा ही करते रहो, उसमें कोई भी गुण तुम्हें न देख पड़े तो तुम स्वदेशके उपयोगी कार्य भली भाँति कदापि नहीं कर सकते। केवल कर्त्तव्य समझकर तुम स्वदेशका उपकार करनेकी चेष्टा कर सकते हो, पर वह चेष्टा सर्वदा विफल होगी। तुम्हारा हृदयहीन प्रयत्न विदेशी बीजकी भाँति स्वदेशी क्षेत्रमें अङ्कुरित नहीं हो सकता। उसी प्रकार जो स्वकालका केवल दोष ही देखता है उसके गुणोंपर जिसकी दृष्टि नहीं, वह चेष्टा करने पर भी स्वकालका कार्य भलीभाँति नहीं कर सकता है। एक विचारसे तो यह कहा जासकता है कि वह है ही नहीं; वैसे आदमीका मानो इस समयमें जन्म ही नहीं हुआ; उसका जन्म अतीतकालमें हुआ है और वह अतीत कालमें ही रहता है; उसको इस समयकी जन-संख्यामें गिनना ठकि नहीं। दादाजी, तुम जो अपने समयको प्यार करते हो और उसे अच्छा बतलाते हो, सो यह तुम्हारा एक गुण है। इससे यह माल्र्म होता है कि तुमने अपने समयके कार्य किये हैं। तुमने अपने माबापकी भक्ति की है, पड़ोसियोंको आपद विपदमें सहायता दी है, शास्त्रके अनुसार धर्मकर्म किया है, दान ध्यान किया है और हृदयकी तृप्ति प्राप्त की है। जिस दिन हम अपना कर्त्तव्य ठीक तौरसे करते

हैं, उसदिन सूर्यकी ज्योति हमारे सामने अधिकतर उज्ज्वल मालूम होती है, उसदिनकी सुखस्मृति बहुत दिनों तक साथ रहती है। पुराने समयका कार्य तुमने सम्पूर्ण किया है, कुछ शेष नहीं रख छोड़ा है, इसीलिए आज बुढ़ापेमें विश्रामके समय वह पुरानी स्मृति इतनी मधुर मालूम होती है। किन्तु उस स्मृतिको लेकर तुम हमारे मनको वर्त्तमान समयसे क्यों विरक्त करना चाहते हो? लगातार इस कालकी निन्दा कर करके हमारे हृदयको इस समयसे खैंच निकालनेकी चेष्टा क्यों करते हो? आशीर्वाद दो कि अपने देश और अपने समयपर हमारा अटल प्रेम बना रहे।

गङ्गोत्तरीके साथ गङ्गाका सम्बन्ध अविच्छिन्नरूपसे सहस्र धाराओंके द्वारा चला आरहा है। परन्तु तौ भी क्या गङ्गा लाख चेष्टा करके भी गङ्गोत्तरीके ऊपर कदापि चढ़ सकती है? उसी प्रकार तुम्हारा समय अच्छा रहा हो या बुरा, अब हम उस समयमें कदापि नहीं जासकते हैं। यदि यही निश्चय है, तो साध्यातीत कार्यके लिए व्यर्थ विलाप परिताप न करके जिस अवस्थामें जन्म हुआ है उसी अवस्थाके साथ मेलमिलाप कर लेना अच्छा है और ऐसे मेलमें बाधा डालना मानों अमङ्गलोंकी सृष्टि करना है।

वर्त्तमान समयपर अरुचि सदा वर्त्तमानहीके दोषसे नहीं होती है। बहुधा यह हमारी असम्पूर्णताके कारण तथा हमारे हृदयकी गठनके दोषसे होती है। वर्त्तमान ही हमारे रहनेकी जगह और काम करनेका स्थान है। जिसको कार्य-क्षेत्रसे अनुराग नहीं है, वह धोखा देना चाहता है। सच्चा कृषक अपने खेतको प्राणोंसे बढ़कर प्यार करता है और उसमें बीजके साथ साथ प्रेमका बीज

बोता है। जो कृषक काम करना नहीं चाहता है, हीले बहानेसे काम निकालना चाहता है, उसे अपने खेतमें पैर रखते ही मानो काँटे गड़ने लगते हैं, वह झुँझला कर कहता है—हमारी जमीनमें यह दोष है, वह दोष है, इसमें काँटें हैं, कँकड़ हैं इत्यादि। अपनी छोड़ औरोंकी ज़मीन देखते ही उसकी आँखें जुड़ा जाती हैं।

समयका परिवर्त्तन हुआ है, और यह सदा ही हुआ करता है। इस हेर-फेर लौट-बदलके लिए हमको तय्यार होना होगा, नहीं तो हमारा जीवन ही निष्फल हो जायगा; जिसप्रकार पुराने समयके जीव-जन्तु म्यूजियम (अजायब घर) में अवस्थान कर रहे हैं हमें भी ठीक उसी तरह पृथिवीपर निवास करना पड़ेगा। परिवर्तनोंमें जो सार्थकता है, जो गुण हैं, उन्हें ढूँढ़ निकालना होगा, क्योंकि जिस भूमिपर हम हैं उसीका रस चूसकर हमें बढ़ना है, अन्य कोई उपाय नहीं है। यदि यथार्थतः हम पानीमें गिरकर बहे जाते हैं तो हमें तैरनेकी चेष्टा करनी चाहिए; पैरोंके बल चलनेका प्रयास सर्वथा व्यर्थ होगा।

इसलिए, तुम जो कहते हो कि हमलोग आजकल बड़ोंका यथेष्ट आदर नहीं करते हैं, सो इस बातको मानकर देखें कि इस परिवर्त्तनका भीतरी सारांश क्या है। यह ठीक नहीं है कि भक्ति समयके प्रभावसे मनुष्यों-के हृदयसे सम्पूर्णतः लुप्त हो गई है। हाँ इतना सम्भव हो सकता है कि भक्तिके स्रोतका मुख एक ओरसे दूसरी ओर फिर गया हो। पहले हमारे देशमें व्यक्तिगत भावकी ही अधिक प्रधानता थी। भक्ति या प्रेमकी इमारत व्यक्तिविशेषका आश्रय ग्रहण किये बिना नहीं ठहर सकती थी। एक मूर्त्तिमान राजा न रहनेसे हमारे हृदयमें राजभक्तिका उदय नहीं हो

सकता था; परन्तु केवल राज्यतन्त्रपर भी तो भक्ति हो सकती है और वह इस समय युरोपीय जातियोंमें ही देखी जाती है। पहले सत्य और ज्ञानका अस्तित्व 'गुरु' नामक किसी मनुष्यविशेषके आकारमें ही रहता था। उन दिनों हम राजाके लिए प्राण देते थे, व्यक्तिविशेषके लिए अपना जीवन अर्पण करते थे; किन्तु अब युरपके लोग किसी भावविशेष या ज्ञानविशेषके लिए प्राणोत्सर्ग कर सकते हैं । वे आफ्रिकाकी बालुकामयी भूमिमें अथवा मेरुप्रदेशकी हिमराशिमें जाकर प्राण दे रहे हैं। किसके लिए ? किसी मनुष्यके लिए नहीं। उच्च भावके लिए, ज्ञानके लिए, विज्ञानके लिए। युरपमें मनुष्यकी भक्तिके विषय अब प्रेम, ज्ञान और भाव हो रहे हैं; इसलिए व्यक्तिविशेषका महत्त्व क्रमशः घटता जाता है। यहाँ भी उसी युरोपीय शिक्षाके प्रभावसे आज सर्वत्र व्यक्तिविशेषकी ओरसे प्रेमका बन्धन धीरे धीरे ढीला होता जारहा है। आजकल बहुतेरे लोग अपने मतके अनुरोधसे पिता मांताको त्याग रहे हैं। इन दिनों प्रत्यक्ष घर द्वार छोड़कर अप्रत्यक्ष स्वदेशकी ओर बहुतोंका प्रेम दौड़ रहा है, लोग अनेक सुदूर उद्देश्योंके साधनमें जीवन बितानेको तत्पर हो रहे हैं। यह भाव पूरे तौरसे फैल गया है,—ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, पर हाँ, भीतर भीतर यह अपना काम कर रहा है और इसके विभिन्न लक्षण अल्प अल्प कर प्रकट भी हो रहे हैं। इसमें अच्छा और बुरा दोनों ही हैं। यह बात सभी अवस्थाओंके विषयमें कही जा सकती है। सो जब कि यह परिवर्त्तन बिल्कुल हमारे माथे आ ही पड़ा है तो इसके भीतर जो कुछ अच्छा है उसे यदि ढूँढ़ कर निकाल सकें, उसी अच्छे गुणपर यदि अनुराग जमा सकें तो वह अच्छा गुण क्रमशः बढ़ता जायगा

और वह बुरा दोष म्लान होकर नष्ट हो जायगा। नहीं तो, जैसा साधारण दस्तूर है, दोष ही खूब कण्टकित होकर सबकी आँखोंके सामने पहले आते हैं और गुण बहुत देरमें देह झाड़कर ऊपर उठते हैं।

मैं तो अपनी कहानी सुना चुका, अब अपनी कथा तुम आरम्भ करो। तुमने कॉलेजमें नही पढ़ा है, इसका कुछ सङ्कोच न करना; क्योंकि तुम्हारे लेखसे भी कॉलेजकी कड़ी गन्ध आरही है। यह समयका प्रभाव है। घ्राणसे आधा भोजन होता है, यह असत्य नहीं है। अतएव, आधुनिक समाजमें रहकर जो तुम साँस लेते हो और नास खींचते हो,उसके साथ कॉलेजकी भी आधी विद्या तुम्हारे दिमाग़में प्रवेश कर रही है। नाक बन्द तो कर नहीं सकते हो, केवल उसे ऊपरको उठाये रहते हो। तुम्हारी ऐसी अवस्था है, मानो तुम लहसुन प्याजके खेतमें बास करते हो और तुम्हारे नाती पोते ही उसकी एक एक मोटी ताज़ी उपज हैं। सो अब यह गन्ध न तो धोनेसे जानेकी है, न माँजनेसे; हाँ, जो नाती-पोतोंको जड़से उखाड़ कर फेंक सको तो अलबत्ते जा सकती है। पर ये तुम्हारे पके केश तो हैं नहीं, ये रक्तबीजके झाड़ हैं।

सेवक,

श्रीनवीनकिशोर शर्मा।

---

(३)

बाबू !

दादाजीसे हँसी ठट्ठा कर सकते हो, इससे उनकी भक्ति न करोगे यह कोई बात नहीं । नाना दादा आदि तुमसे इतने बड़े हैं कि उनसे हँसी दिल्लगी भी चल सकती है । पूछो कैसे ? तो इस तरह, जैसे एक छोटा बच्चा अपने बापकी देहपर पैर रख देता है तो उससे महाभारत अशुद्ध नहीं होता है । किन्तु इससे यह प्रमाणित नहीं होता है कि उस छोटे बच्चेको पिताके प्रति भक्ति नहीं है, अथवा वह पिताको अपना आश्रय और अपनेसे बड़ा नहीं समझता है । उसी प्रकार तुम हमारे सामने इतने छोटे हो कि हम अनायास तुम्हारे साथ अदब क़ायदेका ख़याल उठा दे सकते हैं और तुम्हारी बेअदबी भी सह सकते हैं । एक बात और है । सन्तानका शुभाशुभ पिताके ऊपर निर्भर है; इसी कारण स्वभावतः पिताके स्नेहके साथ शासनका भी सम्बन्ध है और पुत्रकी भक्तिके साथ भयका । पिता कठोर कर्त्तव्य-पथमें पक्का करनेके लिए ही पद पद पर आज्ञा देता है और पुत्रको उसका पालन करना पड़ता है । इसी कारणसे पितापुत्रके बीच शासन और शिष्टाचारकी शिथिलता शोभा नहीं पाती है । पर दादाजी इस शासनोचित कठोर प्रेमका भार बालकके पिता पर ही छोड़कर केवल मधुर और कोमल स्नेह वितरण करते हैं और पोते निर्भय हो भक्ति और प्रेमके साथ दादाजीके निकट आनन्दपूर्ण हास्यालाप करते हैं । किन्तु यदि उस हास्यालापमें भक्तिका अंश न हो तो वह बेअदबी और कुशीलतासे भी अधम है । तुम्हें इतनी बातें कहनेकी आवश्य-

कता न थी, पर तुम्हारी चिट्ठीकी टेढ़ाई देखकर तुम्हें कुछ सावधान कर देना पड़ा है।

शाबाश, बाबू! आज कल तुम बड़ी बड़ी बातें बनाना सीख गये हो। अब तो एक बात मुँहसे निकालकर तुमसे दश बातें सुननी पड़ती हैं! इस पर भी यदि तुम लोगोंकी सब बातें समझ सकता तो शायद जीको उतनी चोट नहीं लगती। बहुशः ऐसा देख पड़ता है कि भावोंमें मेल रहनेपर भी भाषाकी विभिन्नतासे आपसमें मतभेद हो गया है। न मालूम मैं बूढ़ा आदमी तुम्हारी सब बातें समझ सका या नहीं; परन्तु जैसा मैंने समझा है उसीके अनुसार उत्तर देता हूँ।

स्वकाल और परकाल,—यह एक नई बात तुमने छेड़ी है। परकाल तो खैर नई चीज़ नहीं है—सामनेका एक जोड़ा दाँत टूटनेके बादसे मैं भी उस कालकी बातें सोचने लगा हूँ; पर यह स्वकाल क्या वस्तु है?

समयकी भी क्या कोई स्थिरता है! हम क्या केवल काल-स्रोतमें बह जानेको आये हैं कि पतवार छोड़कर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें? क्या महत् मनुष्यत्वका आदर्श कालस्रोतके बीच विशाल पर्व्वतकी भाँति कालको अतिक्रम करके अचल नहीं रहता है?

हम परिवर्त्तनोंके बीचमें रहते हैं, इसीलिए हमें एक स्थिर लक्ष्यकी ओर ध्यान रखना और भी आवश्यक है। नहीं तो कुछ समयमें कुछ भी अपने रूपमें न रह जायगा,—नहीं तो हम भी परिवर्त्तनके गुलाम हो जायँगे, हेर-फेरके खिलौने बन जायँगे। तुमने जो लिखा है उससे तो परिवर्त्तन ही प्रभु मालूम होता है और काल ही कर्त्ता जान पड़ता है—या यों कहो कि घोड़ेको ही, तुम्हारे विचारमें

सम्पूर्ण स्वाधीनता है, सवार उसके अधीन है। कालके प्रति भक्तिको ही तुमने सार माना है; परन्तु मनुष्यत्व और ध्रुव आदर्श विषयक भक्ति उससे कहीं बढ़कर है।

यह कहनेका साहस कौन कर सकता है कि मनुष्य जातिपर प्रेम, पिताके प्रति भक्ति और पुत्र पर स्नेह—यह केवल परिवर्त्तनशील क्षुद्र समयविशेषका धर्म है। इस धर्मका सिर सभी समय ऊँचा रहता है। इसे तुम उन्नीसवीं सदीकी धूल उड़ाकर नज़रोंसे छिपा सकते हो, परन्तु स्वयं इसे धूलकी नाईं फूँककर उड़ा नहीं सकते।

यदि सचमुच ही तुमने देखा है कि आजकल कोई भी व्यक्ति पिता माताकी भक्ति नहीं करता, अतिथिकी सेवा नहीं करता, प्रतिवेशियोंकी सहायता नहीं करता, तो इस कालके लिए शोक करो; समयकी दुहाई देकर अधर्मको धर्म कहकर प्रचारित न करो।

भूत और भविष्यत्की ओर देखकर वर्त्तमानको नियमबद्ध करना पड़ता है। यदि इच्छा हो तो आँखें बन्दकर दौड़नेका सुख अनुभव कर सकते हो; परन्तु शीघ्र ही सिर फूटने और बदन टूटनेका भी मज़ा खूब पावोगे।

वर्त्तमानकाल अहर्निश द्रुतगतिसे आगेकी ओर धावमान है, इसी कारण स्थिर भूतकालका इतना मूल्य है। अतीतकालके प्रबल वेगने अपनी प्रचण्ड गतिको रोककर अब अचल मूर्ति धारण कर ली है। कालके वेगको रोकनेके लिए अतीतका ध्यान करना पड़ता है। अतीत कालके लोप हो जानेसे न कोई वर्त्तमान कालको पहचान सकता है, न उसपर विश्वास ही कर सकता है, उसको अपने वशमें लाना तो बड़ी दूरकी बात है; क्योंकि पहचान करके ही उसे वशमें

करना संभव है। जिसको हम पहचान नहीं सकते हैं वह हमारा प्रभु बन बैठता है। अतएव परिवर्तनशील कालका भय करो, उसे वशमें करनेकी चेष्टा करो, सम्पूर्णतया विश्वास करके उसके चरणोंमें आत्मसमर्पण मत कर दो।

उस वस्तुको क्योंकर अपनी कह सकते हो जो ठहरती नहीं, चंचल है, प्रतिक्षण बदलती रहती है। एक भूमि-खण्डको हम अपना कह सकते हैं पर जलस्रोतको अपना कौन कह सकता है? तब बताओ तो सही कि स्वकाल क्या चीज है?

तुमने लिखा है कि पुराने समयमें हमारी भक्ति और प्रीति व्यक्ति-विशेषकी ओर झुकती थी, भावकी ओर नहीं। व्यक्तिके प्रति भक्ति और प्रीति करना कोई बुरी बात नहीं है, प्रत्युत बहुत अच्छी है, अतः हमारे समयमें जो व्यक्तिगत भाव बलवान् था उसके लिए हम लज्जित नहीं हैं। किन्तु इसी आधारपर यदि तुम यह कहने लगो कि भावके ऊपर हमारी भक्ति न थी, तो मैं इसे स्वीकार नहीं कर सकता। हमारे समयमें दोनों ही प्रकारकी भक्ति थीं और दोनों आपसमें मेलसे रहती थीं। एक उदाहरण लो। हमारे देशमें जो स्वामि-भक्तिया पतिप्रीति थी (शायद अब भी है)—वह क्या थी? वह केवल व्यक्ति-विशेषके ऊपर ही प्रीति अथवा भक्ति नहीं थी; बल्कि वह व्यक्तिविशेषको अतिक्रम करके भी वर्त्तमान थी—वह 'स्वामी'नामक जो भावगत अस्तित्व है उसीके प्रति भक्ति थी। व्यक्तिविशेष उपलक्ष्य मात्र था, मुख्य स्वामी ही था। इसी कारण व्यक्तिके भले बुरे होनेसे भक्तिमें न्यूनाधिक्य नहीं होता था। सब स्त्रियोंके स्वामी बराबर ही पूज्य थे। युरोपीय स्त्रियोंकी भक्ति प्रीति व्यक्तिविशेषमें ही स्थापित

है, भावतक नहीं पहुँचती। इसी कारण वहाँ स्वामी नामक व्यक्तिविशेषके गुणदोषोंके अनुसार उनकी भक्ति और प्रीति नियमित होती है। इसीसे वहाँ विधवा-विवाहमें दोष नहीं है । वहाँकी स्त्रियाँ भावसे विवाह नहीं करतीं, व्यक्तिसे विवाह करती हैं और इस हेतु व्यक्तिका अवसान होनेपर स्वामित्वका भी अन्त हो जाता है । हमारे देशके अधिकांश व्यक्तिगत सम्बन्ध इस प्रकार सुगभीर भावोंपर ही स्थित हैं।

केवल व्यक्तिगत सम्पर्क ही क्यों, अन्यान्य विषयोंको भी देखो। हमारे ब्राह्मणोंने क्या समाजहीके हितके लिए समाजत्याग नहीं किया है ? राजाओंने क्या धर्मके लिए बुढ़ापेमें राज्य नहीं छोड़ा है ? (युरोपीय राजा बिना धक्के खाये क्या कभी ऐसा करते हैं ?) ऋषियोंने क्या ज्ञान और अमरत्वके लिए संसारके सब सुख नहीं त्यागे हैं ? रामचन्द्रने क्या पिताकी प्रतिज्ञा रखनेके लिए यौवराज्य-त्याग नहीं किया ? सत्यकी रक्षाके लिए हरिश्चन्द्रने क्या स्वर्ग नहीं छोड़ा ? परहितके लिए क्या दधीचिने अपनी हड्डियाँ दान नहीं कीं ? कौन कहता है कि कर्त्तव्य अर्थात् भावमात्रके लिए आत्मत्याग करना हमारे देशमें न था ? अन्ध आसक्तिके कारण जिस प्रकार कुत्ते अपने स्वामीके पीछे दौड़ते हैं क्या सीता भी वैसे ही रामके पीछे पीछे बन गई थीं ? किसी उच्च और महान् भावके पश्चात् जिस प्रकार मनुष्य निर्भय चित्तसे विपद और मृत्युके मुँहमें धँसता है, उसी भावसे सीता रामकी अनुयायिनी हुई थीं।

तो क्या व्यक्ति और भावके प्रति प्रीति और भक्ति एक साथ नहीं रह सकती ? वर्त्तमानपर अन्धविश्वास स्थापित कर 'ऐसा नहीं हो-सकता है" कहकर ऐसे एक अमूल्य रत्नको असावधानीसे न खो बैठो।

केवल इतना ही कहा जा सकता है कि किसीको किसी भावपर भक्ति है और किसीको किसी अन्य भावपर । कोई लौकिक स्वाधीनताके लिए प्राण देसकता है और कोई आत्माकी स्वतन्त्रताके लिए ।

खैर, यह स्वीकार करना पड़ता है कि ये सब बातें हम तुम्हारी उम्रमें नहीं समझ सकते थे—किन्तु तुम बहुतसी पेचीली बातें समझ सकते हो और इसीसे मुझे इतना लिखना पड़ा है ।

आशीर्वादक,
श्रीषष्ठीचरण देवशर्मा ।

---

(४)

श्रीचरणेषु प्रणतयः ।

दादाजी, तुम्हारी चिट्ठियाँ क्रमशः पेचीली होती जाती हैं । इनका मतलब मेरी समझमें ठीक ठीक नहीं बैठता । कहाँ रामचन्द्र, हरिश्चन्द्र, दधीचि, इतनी दूर मेरी दृष्टि नहीं जाती । तुम्हीं तो कहते हो कि हम लोगोंमें दूरदर्शिता नहीं है—अतः दूरकी बातोंको दूर कर निकटकी बातें चलाना ही ठीक है ।

इस विषयमें मुझे अणुमात्र भी सन्देह नहीं रहा कि हम एक ऐसी बड़ी जातिके मनुष्य हैं, जिसकी बराबरी करनेवाली दूसरी जाति सारे संसारमें नहीं मिल सकती । वेद वेदान्त, आगम निगम, इतिहास पुराण, सबसे इस बातके अखण्डनीय प्रमाण मिलते हैं । हमारे यहाँ पहले बेलून था, रेलगाड़ी थी और स्टाइलोग्राफ पेन भी था जिससे गणेशजीने महाभारत लिखा था ! डारविनके[1] बहुत आगे हमारे

---

१ एक अँगरेज वैज्ञानिक जिसने बानरोंसे मनुष्योंकी उत्पत्ति मानी है।

पूर्वपुरुषोंने अपने पुरखोंको बानर माना था। आधुनिक विज्ञानके सारे सिद्धान्त शाण्डिल्य, भृगु और गौतमको पूर्णतया विदित थे,—यह सब मैंने माना; किन्तु इससे यह नहीं हो सकता कि हम केवल अपने कुल—गौरव पर फूले रहें, अपने प्राचीन पूर्वजोंके नामपर ही धूनी रमाये बैठे रहें, और वर्त्तमानके साथ कोई सम्बन्ध न रक्खें। यह कोई बात नहीं कि लड़कपनमें एकबार खीर और मोहनभोग खाया था इसलिए अब जीवनभर दाल भातको तुच्छ समझते रहें। यह बड़े दुःखका विषय है कि हमारा वैदिक और पौराणिक युग बीत गया; परन्तु अब जितनी जल्दी हो सके इस दुःखको दूरकर वर्त्तमान युगके कामोंमें लग जाना ही उचित है।

मैंने जब लिखा था कि हमारे देशके लोगोंकी भक्ति भावकी ओर नहीं है, केवल व्यक्तिविशेषके प्रति आसक्ति है, उस समय रामचन्द्र, हरिश्चन्द्र और दधीचिकी कथाओं पर मेरा ध्यान भी न गया था। कीड़ोंकी तरह पुरातत्त्व खोद निकालनेका मुझे उत्साह नहीं है। मैं तो अपेक्षाकृत आधुनिक लोगोंकी ही बातें कहता हूँ। तर्क वितर्क करनेकी इच्छाको थोड़ी देर दूर रखकर एकबार सोच कर तो देखो कि हमारे देशमें कितने मनुष्य उच्च भावको औपन्यासिक कुहेलिका न समझकर, उसे सत्य मान, उसपर विश्वास रख, उसीके लिए अपना जीवन अर्पण करते हैं। यह दल और वह दल; हम, तुम और अमुक—बस यही करते करते तो हमारे दिन बीत जाते हैं। मेरे और अमुकके मतलबके कामको छोड़ देशका कोई और सदनुष्ठान भी होसकता है, ऐसा कभी ख्यालमें भी नहीं आता है। इसीलिए हम अपने अपने अभिमानमें मस्त पड़े हैं। मुझे कोई ऊँचा पद नहीं मिला है, इसकारण मैं अमुक सभामें न

रहूँगा; इस कार्यमें मेरी सम्मति नहीं मानी गई, इसलिए मैं इस काममें हाथ न डालूँगा; उस समाजके सेक्रेटरी अमुक हैं, इससे मेरा उसमें रहना शोभा नहीं पाता—यही सब सोच सोच कर हम घुटा करते हैं। हर बातमें मान और लज्जाका भूत सिरपर सवार रहता है। मेरी एक बात भी यदि न मानी जाय तो मेरे लिए यह अपमान सहना कठिन हो जाता है। दुर्भिक्षका मारा यदि कोई मेरा साहाय्य चाहता है तो मैं उसे बस पाँच रुपये देकर ऐसा गर्व करने लगता हूँ कि मैंने उसका बड़ा उपकार किया, उसे भिक्षा देकर बहुत अनुगृहीत किया। केवल उसीसे नहीं उसके ऊपर चौदहवीं पीढ़ी तकके लोगोंसे मन ही मन कृतज्ञता मनवानेका दावा करता हूँ; नहीं तो मनकी तृप्ति नहीं होती। यदि कोई मेरा ऐसा एहसानमन्द नहीं हुआ तो मुझे क्या ऐसी ग़रज़ पड़ी है कि मैं कलकत्तेके एक कोनेमें रहूँ और बीरभूमके एक कोनेमें कोई मेरे रुपयेसे पेट पाले? परोपकारीके नामसे आज कौन ख्यात है? वही मनुष्य जो अपने आश्रितोंका या खुशामदियोंका उपकार करता है। किसीने आकर कहा—सरकार! आपके हाथ झाड़नेसे पहाड़ तय्यार हो सकता है, आपके ज़रासे कृपाकटाक्षसे मुझ गरीबका जीवननिर्वाह होसकता है, मैं आप ही लोगोंका आश्रित हूँ। यह सुन महामहिम महिमार्णव महाशय झट गुड़गुड़ीका एक दम खींचकर बोल उठे—'अच्छा' और शीघ्र ही एक पुर्जा लिखकर उस अकर्मण्य भूभारको अपने किसी विश्वासपरायण बान्धवके मत्थे मढ़ दिया। एक दूसरा हतभाग्य उनके पास न जाकर पहले पाँचू बाबूके निकट चला गया था, बस इसी अपराधके कारण न केवल उसे फूटी कौड़ी तक नहीं मिली बल्कि श्रीमान्‌की वाग्वर्षाने

उसकी आँखोंको मानो झरने बना दिया । वृत्ताकार तोंद फुलाकर और चारोंओर नौकरों और खुशामदियोंको बैठाकर जो व्यक्ति शनैश्चर ग्रहकी नाई विराज रहा है, आज वही तो हमारी दृष्टि-में महान् पुरुष है । उदारताकी सीमा पेटके चारोंओर ही तक समाप्त है । हमारी उदारता देशव्यापी और स्थायी नहीं है । और तो और, हम ऐसे उदार महत्त्वका विश्वास तक नहीं कर सकते हैं । यदि देखते हैं कि कोई व्यक्ति रुपये पैसेकी ओर अत्यधिक ध्यान न देकर कुछ समय देशकी सेवामें भी लगाता है तो हम उसे ढोंगी कहते हैं । हमारी बिकट क्षुद्रताके सामने महत् कार्य भी ढोंगके सिवा और क्या हो सकता है ? हम रुपये पैसेका, क्षुधा तृष्णाका अर्थ अलबत्ते समझ सकते हैं, क्योंकि हमारे जानते क्षुद्र प्रवृत्ति और सं-कीर्णकर्त्तव्यज्ञानसे काम करना ही बुद्धिमान प्रकृतिस्थ पुरुषका लक्षण है—किन्तु किसी महत्कार्यके लिए आत्मत्याग करना किस जानवरका नाम है सो नहीं जानते । हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति दल गठन कर-नेको या नाम निकालनेको अथवा गुप्त रीतिसे धन उपार्जन करनेको इस कार्यमें प्रवृत्त हुआ है—यदि स्पष्ट ऐसा नहीं कह सकते तो इतना ज़रूर कहते हैं कि उसका कोई विशेष अभीष्ट या उद्देश्य है । उद्देश्य तो है ही । पर उद्देश्यका अर्थ क्या बस अपने उदरकी पूर्ति और अह-ङ्कारकी तृप्ति ही है; क्या किसी उच्चतर उद्देश्यकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते ? हमारी जातिके हृदयमें क्षुद्रता ऐसी ही बद्धमूल हो गई है । यदि हम देखते हैं कि कोई रामहरि या कालाचाँदके उपकारके लिए निःस्वार्थभावसे आत्मोत्सर्ग करता है तो हम उसकी प्रशंसा करते हैं, किन्तु मानवजातिके उपकारके लिए ऑफिसमें अनुपस्थित रहना—इस

प्रकारका अविश्वासजनक और हास्यजनक प्रस्ताव ऑफिसके कोटरमें रहनेवाले क्षुद्र बङ्गाली उल्लूके लिए एक बड़े आश्चर्यका विषय है। कोई सामाजिक निबन्ध देखकर बङ्गाली पाठक बराबर सूँघ सूँघ कर इसी बातके अनुसन्धानमें लगे रहते हैं कि अमुक लेख किस व्यक्तिविशेषके विरुद्ध लिखा गया है! सामाजिक कुरुचि या कदाचारके ऊपर भी कोई व्यक्ति क्रोध कर सकता है, यह उनके खयालमें असम्भव सा जँचता है। इसी कारण उनके विचारमें यही अधिक युक्तिसङ्गत और मनुष्य स्वभाव अर्थात् बङ्गाली स्वभावके अनुकूल प्रतीत होता है कि वह निबन्ध किसी विशेष प्रतिपक्षीपर आक्रमण करनेके उद्देशसे ही लिखा गया है। बहुतसे बंगला समाचारपत्रोंमें व्यक्तिविशेषकी बातोंकी खोजमें उञ्छवृत्तिका आश्रय लिया जाता है; जिसे तिसे पकड़कर उसके सिरके जूँ बीने जाते हैं और इसी बहाने बङ्गाली पाठकोंका मन बहलाया जाता है।

यह सब देख सुनकर ही तो मैंने कहा था कि हम व्यक्तिके लिए तो प्राण तक न्यौछावर कर सकते हैं किन्तु महान् भावके लिए एक पैसा—कौड़ी भी नहीं दे सकते। हम केवल घरमें बैठ लम्बी चौड़ी गप्पें हाँक सकते हैं, बड़े लोगोंकी नकल कर सकते हैं और हुक्केके लम्बे लम्बे दम खेंचकर तास खेल सकते हैं। हमारा भावी क्या है, बस हम यही सोचते हैं। तौभी हमारा अहङ्कार अभिमान दिन दिन बढ़ता ही जाता है। हम पूर्ण निश्चय कर बैठे हैं कि हम सारी सभ्यजातियोंके समकक्ष हैं। हम बिना पढ़े ही पण्डित हैं, बिना लड़े ही वीर हैं, अपने ही मुँहसे सभ्य हैं, केवल चालाकीसे पेट्रियट (देशभक्त) हैं, हमारी जिह्वाके रासायनिक प्रभावसे जगत्में जो घोर विप्लव उपस्थित

होगा बस हम सर्वदा उसीकी प्रतीक्षामें रहते हैं। सारा संसार भी मानों उसी ओर साश्चर्य देख रहा है । दादाजी ! कहो तो अब रामचन्द्र, हरिश्चन्द्र और दधीचिकी कथा छेड़नेका क्या फल है ? यह हमारी तप्त वाचालतामें केवल फोड़न देना है । इससे और क्या होना जाना है ?

हम केवल अपना, इसका, उसका, यह, वह, कह कर बड़ी धूमधाम मचा रहे हैं या छटपट करते हुए इधर उधर घूम रहे हैं । यथार्थ वीरता, उदार मनुष्यत्त्व, महत्त्वकी आकांक्षा, जीवनके उच्च कर्त्तव्योंके साधनके लिए हृदयका प्रबल उत्साह, क्षुद्र विषयवासनाकी अपेक्षा सहस्त्रगुण श्रेष्ठ आध्यात्मिक उत्कर्ष—ये सब हमारे देशमें अब केवल किस्से कहानीके रूपमें रह गये हैं; द्वार अत्यन्त क्षुद्र होनेके कारण हमारी जातिके हृदयके भीतर इनका प्रवेश न हो सका—केवल बाष्पमय भाषाकी प्रतिमाएँ हमारे साहित्यमें कुहरेकी रचना कर रही हैं ।

मुझे आशा है कि अँगरेज़ी शिक्षाके प्रभावसे यह संकीर्णता हमारे हृदयसे धीरे धीरे दूर हो जायगी । अतः इस शिक्षाकी ओर विराग उपजाकर इसका भीतरी उत्कर्ष देखनेकी राह बन्द कर देना, मेरी समझमें, हमारे लिए मङ्गलजनक नहीं प्रतीत होता है ।

सेवक,

श्रीनवीनकिशोर शर्मा ।

---

(५)

चिरञ्जीव बबुआ !

आशीर्वाद । तुम्हारी चिट्ठी पढ़कर बड़ा आनन्द हुआ । सचमुच बङ्गाली जाति ऐसी चालाकी सीख गई है कि जिससे उसके सामने किसी गम्भीर विषयकी आलोचना करते या किसी श्रद्धास्पद व्यक्तिका

नाम लेते सङ्कोच बोध होता है। कभी हमारे भी गौरवके दिन थे और तब हमारे देशमें भी बहुतसे वीर उत्पन्न हुए थे। पर बङ्गालियोंको इससे क्या? वे तो भीष्म, द्रोण, भीम और अर्जुनको 'पुरातत्त्व' के ताखेपरसे उतार कर बस उनकी धूल झाड़ते हैं और सभामें लाकर पुतलीका नाच दिखाते हैं। बात यह है कि केवल भीष्म, द्रोण प्रभृति शूर वीर ही हमारे देशसे लुप्त नहीं हुए हैं; बल्कि उनके समयमें जो हवा थी वह भी अब बहती नहीं दीख पड़ती। स्मृतिमें जीवित रहनेके लिए भी उन्हें आहारकी आवश्यकता है। किसीका नाम याद रखना ही स्मृति नहीं है, किन्तु उसके प्राणोंका पकड़ रखना ही स्मृति है। किन्तु प्राण बनाये रखनेके लिए तदुपयोगी वायुका प्रयोजन है, तदुपयोगी खाद्यकी आवश्यकता है। स्मृति जगा रखनेके लिए हमारे हृदयका तप्त रक्त उस स्मृतिकी नाड़ियोंमें प्रवाहित होना चाहिए। अतः जहाँ मनुष्यत्व है भीष्म, द्रोणका बचा रहना भी वहीं सम्भव है। हम तो प्रकृत मनुष्य नहीं कि उनकी स्मृतिको जगा रख सकें। हम तो केवल नामके मनुष्य हैं। हमारा बहुत कुछ अवश्य आदमी जैसा है। ठीक आदमीकी तरह खाते पीते हैं, चलते फिरते हैं, जम्भाई लेते और सोते हैं—देखनेसे कौन कहेगा कि हम मनुष्य नहीं हैं? किन्तु भीतर मनुष्यत्वका पता नहीं। जिस जातिकी मज्जाके भीतर मनुष्यत्व है उस जातिका कोई व्यक्ति महत्त्वमें अविश्वास नहीं कर सकता, उच्च आशाको सनक नहीं समझ सकता, महदनुष्ठानको ढोंग नहीं कह सकता। वहाँ संकल्प कार्यरूपमें परिणत होता है, और कार्य सिद्धिको प्राप्त होता है। वहाँ जीवनके सारे लक्षण प्रकट होते हैं। उस जातिका सौन्दर्य फूलके ऐसा

विकसित होता है और वीरत्व फलकी नाईं परिपक्कताको प्राप्त होता है। मुझे विश्वास है कि जैसे जैसे हम महत्त्व उपार्जन करते चलेंगे, ज्यों ज्यों हमारे हृदयका बल बढ़ता चलेगा, त्यों त्यों हमारे देशके वीरगण पुनर्जीवन लाभ करेंगे। भीष्मपितामह हमारे बीच फिर जी उठेंगे। हमारे इस नवीन जीवनके अन्तर्गत ही हमारे देशका प्राचीन जीवन फिर अपनी छटा दिखलायगा। नहीं तो मृतकोंके बीच जीवनका संचार कैसे होगा! बिजलीके प्रयोगसे मृत शरीर जीवितके सदृश, केवल हाथ पैर हिला सकता है और बस। हमारे देशमें आज उसी कृत्रिम अङ्गभङ्गीका प्रादुर्भाव हुआ है। किन्तु हाय! कौन हमको इस प्रकार नचाता है! क्यों हम भूल रहे हैं कि हम नितान्त असहाय हैं! हमारी इन सब उन्नतियोंकी जड़ कहाँ है? इनकी इमारत किस बुनियाद पर बनेगी और रक्षा कैसे होगी? ज़रासा हिला देनेसे ही सब सामान दो घड़ीके सुखस्वप्नकी नाईं कहाँ-का कहाँ विलीन हो जायगा। अन्धकारके बीच इस बङ्गदेशमें जादूकी लालटेनकी रोशनी देख पड़ी है। उसीकी झलकको हम स्थायी उन्नति समझ बैठे हैं और अँगरेज़ी फ़ैशनपर लट्टू होकर आनन्दकी तालियाँ बजा रहे हैं। हमने उन्नतिकी बाहरी चमकदमकको तो ग्रहण कर लिया है; पर उन्नतिके धारण, पोषण और रक्षाके लिए जिस विपुल बलकी आवश्यकता है उसका सञ्चय कब किया है? हमारे हृदयकी ओर देखो, उसमें वही जीर्णता और दुर्बलता, वही असम्पूर्णता और क्षुद्रता, वही असत्य और अभिमान, वही अविश्वास और भय निवास कर रहे हैं; चपलता और नीचता, आलस्य और विलासिता विलास कर रहे हैं। दृढ़ता और उद्यम नहीं हैं; क्योंकि सभी लोग सोचते हैं कि

'सिद्धि हो गई, अब साधनाकी क्या अवश्यकता' किन्तु साधनाके बिना ही जो सिद्धि प्राप्त हुई हैं उसका कदापि विश्वास न करना। उसे तुम अपनी समझते हो, पर वह कदापि तुम्हारी नहीं है। हम किसी वस्तुको उपार्ज्जन अवश्य कर सकते हैं, पर उससे लाभ नहीं उठा सकते। जबतक हम संसारकी सारी चीजोंको अपनाते अपनाते सम्पूर्णतः अपनी न बना लें तबतक हमें वास्तवमें कुछ भी नहीं मिल सकता। खुद बखुद देहपर आ गिरना ही लाभ नहीं कहलाता। हमारी आँखोंके स्नायु सूर्यकी किरणोंको हमारे उपयोगी आलोकके रूपमें परिणत कर लेते हैं। यदि ऐसा न हो तो हम अन्धे हैं, हमारी अन्धी आँखोंपर हजारों सूर्यकिरण पड़नेसे भी कोई लाभ नहीं होसकता। हमारे हृदयके वे स्नायु कहाँ हैं? इस पक्षाघातका आरोग्य कैसे होगा? हम साधना क्यों नहीं करते हैं? इसीलिए कि सिद्धिके लिए हमारे मनमें विह्वलता नहीं है। सो सबसे पहले इसी विह्वलताका प्रयोजन है।

अर्थात् वातिककी आवश्यकता है। हमारी प्रकृति श्लेष्मा-प्रधान है; इसमें वातिकका पूर्ण अभाव है। हम बड़े ही भद्र हैं, बुद्धिमान् हैं, किसी तरहका पागलपन हमसे नहीं हो सकता है। हम पास करेंगे, रोजकार करेंगे, पकायँगे और खायँगे। पर हम आगे नही बढ़ेंगे, पीछे ही पीछे चलेंगे; राय लम्बी चौड़ी देंगे पर काम नहीं करेंगे; दंगा-हंगामेंसे तो दूर भागेंगे पर मामले मुकदमे और दलबन्दीमें बड़े बहादुर हैं। लड़ाई भिड़ाईकी अपेक्षा हमें हुज्जत तकरार बहुत अच्छी लगती है। मानो हमारा विश्वास है कि लड़नेके बदले भागनेहीमें हमारे पूर्वजोंके यशकी रक्षा होती है। इस प्रकारके अत्यधिक

स्निग्धभाव और मज्जास्थित श्लेष्माके प्रभावसे निद्रा ही हमारे लिए अत्यन्त सुखदायक बोध होती है और स्वप्नहीको हम सत्यके आसन पर बैठाकर तृप्तिलाभ करते हैं।

अतएव स्पष्ट है कि हमारे लिए प्रधान आवश्यक वस्तु है—वातिक। उस दिन मुझे एक वातप्रधान प्रकृतिके वृद्धसे भेंट हुई। वातके प्रकोपने उन्हें एकदम लोटा दिया है—यहाँतक कि कई बार वातव्याधि उनकी आयु पर भी आक्रमण कर चुकी है। उनके साथ कुछ देर तक आलोचना कर यह निश्चय किया कि हमारे देशमें केवल एक 'वातवृद्धिकारिणी सभा'की अवश्यकता है। सभाका उद्देश्य होगा कुछ भद्र सन्तानोंको पागल बनाना,—बस इतना ही। प्रकृत पगले लड़केको देख वास्तवमें आखें जुड़ा जाती हैं।

वायुका माहात्म्य कौन वर्णन कर सकता है? फूँक फूँक कर पैर रखनेवाले हम भला उन जातियोंको कब छू सकते हैं जो उन्नीसवीं सदीमें उनचासों वायुके प्रबल बेगसे चल रहे हैं। हमारे अधिकारमें जो थोड़ी बहुत वायु है भी, वह सभाओंके नियम बनाने और वक्तृता देनेमें ही खर्च हो जाती है।

डर डरके चलनेवाले संसारी लोग महती आशा, महान् भाव, महत् उद्देश्यको भापके ऐसा समझते हैं। किन्तु इसी भापके बलसे उन्नतिका जहाज चल रहा है। इसी भापसे काम लेना होगा; इसी वायुको पालोंमें अटका रखना होगा। ऐसी महती शक्ति और कहाँ है? हमारे देशमें इसी बाष्पकी कमी है; इसी वायुका अभाव है। हम उन्नतिके पालमें फूँक कर हवा भरते हैं सही, पर फूँकनेमें जितने हमारे गाल फूलते हैं, उतना पाल नहीं फूलता।

उच्च भावके लिए आत्मविसर्जन करना यदि पागलपन कहा जाय, तो एक समय देशमें वैसे पागलपनका बड़ा ज़ोर था । यही यथार्थ वीरत्व है । कर्त्तव्यके अनुरोधसे रामचन्द्रका राज्य छोड़कर वन जाना वीरत्व है और सीता और लक्ष्मणका उनका अनुसरण करना भी वीरता है । भरत जो रामको लौटा लाने गये, वह वीरत्व है और हनुमानने जो प्राणपणसे रामचन्द्रकी सेवा की, वह भी वीरत्व है । हमारे काव्यों और शास्त्रोंमें लिखा है कि हिंसाकी अपेक्षा क्षमामें, और ग्रहणकी अपेक्षा त्यागमें अधिक वीरत्व है । हमारे देशमें निरी पहलवानीको कोई बड़े महत्त्वका गुण नहीं समझता था । इसी कारण महाकवि वाल्मीकिजीके रामचन्द्रने रावणको पराभूत करके ही अपनेको कृतकार्य नहीं समझा; उन्होंने उसे क्षमा भी किया । रामके हाथों रावणका दुहरा पराजय हुआ—एक बाणोंसे, दूसरा क्षमादानसे । कवि कहते हैं कि, रामकृत इन दो जयोंमें द्वितीय जय ही श्रेष्ठ है । होमर[१]के एकिलिसने विजित हेक्टरकी मृतदेहको घोड़ेकी दुमसे बाँधकर नगरकी प्रदक्षिणा की थी । अब राम और एकिलसमें तुलना करो । युरोपीय महाकवि यदि महाभारतके रचयिता होते तो, वे पाण्डवोंकी युद्धजय पर ही महाभारतको समाप्त कर देते किन्तु हमारे व्यासजी कहते हैं कि, राज्यग्रहणमें महाभारतकी समाप्ति नहीं है, इसकी समाप्ति राजत्यागमें है । जहाँ सब

१ होमर—युरपके सर्वश्रेष्ठ कवि; इनका जन्म ग्रीस देशमें हुआ था । ये युरोपीय काव्यके पिता माने जाते हैं । ईलियड और ओडिसी ये दो प्रसिद्ध महाकाव्य इन्हींकी रचना माने जाते हैं । एकिलिस और हेक्टरकी कथा ईलियडमें है ।—अनुवादक ।

पदार्थोंकी समाप्ति है वहीं हमारा लक्ष्य रहता था। केवल इतना ही नहीं, हमारे कवियोंने पुरस्कारका भी लोभ नहीं दिखाया है। अंगरेज़ लोग युटिलिटेरियन (Utilitarian) हैं; उनमें दुकानदारीकी बू है; इसीसे उनके शास्त्रमें एक शब्द पोइटिकल जस्टिस (Poetical fustice) है याने उनके यहाँ सत्कर्म भी एक प्रकारका देन—लेन है; सत्कार्योंका मूल्य निरूपण किया जाता है। हमारी सीता चिरदुःखिनी रहीं; राम, लक्ष्मणका जीवन दुःख और कष्टमें ही समाप्त हुआ। अर्जुनकी वह अलौकिक वीरता कहाँ गयी? अन्तमें डाकुओंका एक दल उनसे यादवकुलकी स्त्रियाँ छीन लेगया और उनका गाण्डीव रखा ही रह गया। पाँचो पाण्डवोंका सारा जीवन जंगलोंमें दारिद्र्य, दुःख और कष्टमें ही बीता, अन्तमें भी क्या सुख हुआ? हरिश्चन्द्रने कितने संकट उठाये? उन्होंने क्या कुछ न त्यागा? अन्तमें कविने पुण्यका अन्तिम पुरस्कार स्वर्ग भी उनके हाथसे छीन लिया। राजपुत्र होनेपर भी भीष्मने संन्यासीके सदृश जीवन बिताया। उनके सारे जीवनमें सुख कहाँ? समस्त जीवन आत्मत्यागकी कठिन शय्यापर बिताकर अन्तकालमें उन्होंने शर-शय्या पर विश्राम लिया।

एक समयमें महद्भावके ऊपर हमारे देशके लोगोंका इतना दृढ़ विश्वास और ऐसी अचल निष्ठा थी कि, वे महत्त्वको ही महत्त्वका परिणाम समझते थे और धर्मको ही धर्मका पुरस्कार मानते थे।

और आजकल? अब तो हमारी ऐसी दशा होगई है कि क्लर्की-छोड़कर और किसी उद्योगपर हम विश्वास ही नहीं करते हैं—यहाँ तक कि, वाणिज्यव्यापारको भी पागलपन समझते हैं।

अर्ज़ी दरख़ास्त ही मानो अब हमारी भवसागर पार होनेकी नौका और नाम सही करनेहीमें हमारे वीरत्वकी समाप्ति है।

भाई, आज तुम्हारे और मेरे बीच प्रेम उत्पन्न हुआ। महत्त्वके लिए यह काल और वह काल क्या है? हमारा हृदय उसी वस्तुको ग्रहण करे जो अच्छी है, उसी स्थानकी ओर अग्रसर हो जहाँ सद्वस्तु है। हमारी नीचता, चञ्चलता और संकीर्णता दूर हो! अज्ञता और क्षुद्रतासे उत्पन्न बङ्गालियोंके सहज अभिमानसे नेत्र बन्दकर हम अपनेको सबसे बड़ा न समझें और महान व्यक्ति होनेसे पहले ऐसा विनय लाभ करें कि देश, काल और पात्रका विचार कर महत्पुरुषोंके चरणोंकी धूल ले सकें।

शुभाशीर्वादक,
श्री षष्ठीचरणदेव शर्मा।

---

(६)

श्रीचरणेषु प्रणामाः।

दादाजी! इस बार थोड़े दिनके लिए भ्रमण करनेको निकला हूँ। यहाँ इस सुदूरविस्तृत मैदानमें अशोकवृक्षकी छायामें बैठ मुझे वह कलकत्ता शहर ईंटोंका बना एक बहुत बड़ा पिंजरा जैसा मालूम होता है। मानो कोई सौदागर सैकड़ों हजारों आदमियोंको पिंजरेमें बन्दकर बाजारमें बेचनेको लाया है। स्वाभाविक गीत भूलकर ये सब कायँ कायँ चायँ चायँ कर रहे हैं और आपसमें लड़ लड़कर कट मर रहे हैं। मैं उस पिंजरेसे निकल भागा हूँ; मैं बाजारमें बिकना नहीं चाहता।

वृक्ष लतादि न हों तो मैं बच नहीं सकता । मैं सोलहों आने विजिटेरियन (शाकाहारी) हूँ । मैं देह तथा मनसे उद्भिद्‌ही‌की सेवा किया करता हूँ । ईंट, काठ, चूना और सुर्खी मृत्युके भार सदृश मेरे ऊपर लदी हुई हैं । मृत्युका भय सदा ही बना रहता है । बड़ी बड़ी इमारतें अपनी शहतीरों और कड़ियोंकी बत्तीसी दिखाती हुई मुँह फाड़कर मानो मुझे निगले जाती हैं; विशाल कलकत्ते शहरके कराल जठरमें मानों मैं एकदम हजम हो रहा हूँ । किन्तु यहाँ वृक्षा-वली और घासपातकी हरियालीके बीच मन और प्राणको बड़ी ही प्रसन्नता और उमंग प्राप्त हुई हैं । प्रकृतिके चारों ओरसे जीवनके स्रोत वहीं आकर मिल जाते हैं जहाँ हृदयके भीतर जीवनका सरोवर है ।

बङ्गदेश यहाँसे कई सौ कोस दूर है । किन्तु यहाँसे मैं बङ्गदेशकी एक नवीन मूर्ति देखरहा हूँ । जिस समय बङ्गदेशके भीतर ही था, उस समय बङ्गदेशके लिए बड़ी आशा न थी । उस समय समझता था कि, बङ्गाल ' मूछमें तेल और गाछमें कटहल ' का देश है; 'छोटा मुँह और बड़ी बात ' का देश है; ' पेटमें पिल्ही, कानमें कलम और सिर पर शमले' का देश है । समझता था कि यहाँ एक हाथकी ककड़ीमें नौ हाथका बीया होता है । यहाँके देहाती लड़के हाथ पैर हिलाकर केवल एक प्रहसनका अभिनय कर रहे हैं और सोच रहे हैं कि दर्शकलोग बस हँसीके लिये ही हँस रहे हैं, वास्तवमे हँसनेका कोई युक्तिसंगत कारण नहीं है । किन्तु आज यहाँ हजार कोसकी दूरी पर बङ्गभूमिके मुखके चारों ओर एक अपूर्व ज्योतिर्मण्डल दिखाई दे रहा है । आज बङ्गभूमिका मातृरूपमें दर्शन कर रहा हूँ, उसकी गोदमें बङ्गवासी नामक एक सुन्दर बालक है—और वह हिमा-

लयकी तराईमें, समुद्रके किनारे, श्यामल जंगलोंमें और धानसे हरे भरे खेतोंमें, गङ्गा और ब्रह्मपुत्रके तीरोंपर इस शिशुका लालन पालन कर रही है। वह झुककर बच्चेका मुँह निहार रही है; बालकको देख माताका मुँह आशा और आनन्दसे दीप्तिमान हो रहा है। हजार कोस-से मैं माके मुखपर उस आशाकी चन्द्रिका देख रहा हूँ। भरोसा होता है कि यह बालक मरेगा नहीं। बङ्गमाता पाल पोस बड़ाकर एक दिन इसको संसारके कार्यके लिए उत्सर्ग कर सकेगी। बङ्गभूमिकी गोद-से बीच बीचमें आज बच्चेकी हँसी और क्रन्दनकी आवाज सुनाई पड़ती है। बङ्गदेशके सहस्र कुञ्जवन इतने दिनोंतक निस्तब्ध थे; बङ्गभवनमें इतने दिनोंतक बालककी कण्ठ-ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती थी; इतने दिनोंतक भागीरथीके दोनों तीर स्मशान जैसे प्रतीत होते थे। पर आज बङ्गभूमिका आन-न्दोत्सव भारतवर्षमें चारों ओर सुनाई दे रहा है। आज भारतवर्षके पूर्वीय प्रान्तमें एक नयी जातिके जन्मोत्सवका जो गान हो रहा है, उसे मैं दक्षिण प्रान्तके पश्चिमीय घाटगिरीके सीमान्तप्रदेशमें बैठकर सुन रहा हूँ। बङ्गदेशके भीतर रहकर जो मुझे केवल अर्थहीन प्रलापसा जान पड़ता था आज मैं उसका एक महान् अर्थ देख रहा हूँ। इतनी दूरीसे बङ्गालका केवल वर्त्तमान ही नहीं, प्रत्युत भवि-ष्यत्—केवल प्रत्यक्ष घटना ही नहीं बल्कि भावी सम्भावना भी मैं देख रहा हूँ। इसीसे मेरे हृदयमें एक अनिर्वचनीय आशाका सञ्चार हो रहा है।

मानसिक आवेगके कारण मैं कुछ लम्बी चौड़ी बातें लिख गया और तुम्हें लम्बी चौड़ी बातें अच्छी नहीं लगतीं। तुम सीधीसादी

बातोंके कुछ विशेष पक्षपाती हो—यह अच्छा नहीं। ख़ैर, जो हो तुम्हारे आगे वक्तृता देना मेरा उद्देश्य नहीं है। असल बात क्या है, जानते हो? इतने दिनोंतक बङ्गदेश मानो शहरकी चारदीवारीके बाहर पड़ा था, अब इसे चारदीवारीके भीतर ले आनेका प्रस्ताव आया है। यह समाचार मुझे चुपके मिला है। अब हम मानवसमाज नामक बड़ी म्युनिसिपैलिटीके लिए टैक्स देनेके अधिकारी हुए हैं। हम सारी पृथिवीरूपी राजधानीके अधिवासी होनेकी चेष्टा कर रहे हैं। हम राजधानीको कर देंगे और राजधानीके लिए कर वसूल करेंगे।

मनुष्यके लिए कार्य न करनेसे मनुष्योंमें गिन्ती नहीं हो सकती। एक देशके रहनेवालोंके बीच जहाँ प्रत्येक व्यक्ति सबका प्रतिनिधि-स्वरूप है, सबका बोझ भी सभी अपने कन्धेपर उठानेको प्रस्तुत हैं वहीं कहना होगा कि प्रकृतरूपसे जातिकी सृष्टि हुई है। और जो लोग स्वजातिकी सीमाको भी पारकर मानव कुलमात्रके लिए कार्य करते हैं, वे ही मानव जातिमें गणना करने योग्य हैं। क्या ऐसा विश्वास नहीं होता कि, हम भी स्वजाति और मानव जातिके लिए कार्य कर सकेंगे? हमारे बीच एक महत् भावकी बाढ़ आगयी है, जो हमारे बन्द दरवाजोंपर धक्के देरही है और हमको सर्वसाधारणके साथ मिलाकर एक करनेकी चेष्टा कर रही है। बहुतेरे विलाप कर रहे हैं कि "हा! सब एकाकार हो रहा है!" किन्तु मेरे चित्तमें तो आज इसी बातका आनन्द होता है कि आज सबके एकाकार होनेकी तैयारी हो रही है। हम जब बङ्गाली होंगे तब एक बार एकाकार होगा और पुनः बङ्गाली जब मनुष्य होंगे तब और भी विस्तीर्ण एकाकार होगा। विपुल मानव शक्तिने, बँगला समाजमें प्रवेशकर कार्य

करना आरम्भ किया है—यह मुझे दूर ही से दिखाई पड़ रहा है। इसके प्रभावको कौन अतिक्रम कर सकता है? यह हमारे आलस्य और संकीर्णताको दूर किये बिना नहीं रहेगी। हममें वृहत् प्राणका सञ्चारकर उसी प्राणको पृथिवीके साथ मिला देगी। हमको अपना दूत बना पृथिवीमें नवीन नवीन सम्वाद प्रेरण करेगी। हमसे अपना कार्य सम्पादन कराये बिना हमें छुट्टी न देगी। हमारे मनमें यह दृढ़ विश्वास जम रहा है कि, संसारमें बङ्गाली जातिका एक कार्य अवश्य है। हम केवल पृथिवीका अन्न ध्वँस करने नहीं आये हैं। हमारी लज्जा एक दिन दूर होगी। ये सब बातें मैं अपने हृदयमें अनुभव कर रहा हूँ।

हमारे विश्वासका कारण भी है। हम बङ्गालियोंहीमें तो महात्मा चैतन्यने जन्म लिया था। उनका विचार सङ्कुचित और सीमाबद्ध न था। उन्होंने तो मनुष्यमात्रको अपना लिया था। उन्होंने अपने विस्तृत मानवप्रेमके कारण बङ्गभूमिको ज्योतिर्मयी बना डाला था। उस समय तो बङ्गाल पृथिवीके एक अँधेरे कोनेमें पड़ा था; साम्य, भ्रातृभाव प्रभृति शब्दोंकी सृष्टि भी नहीं हुई थी; सभी अपने अपने आह्निक, तर्पण और चण्डीमण्डप लेकर व्यस्त थे—उस समय ऐसी बातें कैसे निकलीं—?

"एक बार मार खाचुका हूँ, सम्भव है, फिर भी मार खाऊँ; पर क्या इसी हेतु प्रेमवितरण न करूँ?"

यह बात कैसे फैली? सबके मुँहसे कैसे निकली? अपने अपने बाँसके कुञ्जोंके निकटस्थ पुस्तेनी घरके सीजके घेरेको लाँघकर मैदानमें आनेको किसने आह्वान किया? और उस

आह्वानपर सब कैसे बोल उठे ? एक दिन तो बँगलादेशमें यह भी सम्भव हुआ था ? एक बङ्गाली तो एक दिन सारे बङ्गाल (अर्थात् बङ्गालके निवासियों) को रास्तोंपर निकाल लाया था न ? एक बङ्गालीने तो एक दिन सारे संसारको मत्त करनेके लिए षड्यन्त्र रचा था और बङ्गालियोंने तो उस षड्यन्त्रमें योगदान किया था। बङ्गालके लिए वह गौरवका दिन था। उस समय बङ्गालके लिए यह एक ही बात थी चाहे वह स्वाधीन रहा हो वा पराधीन, चाहे वह मुसलमान नवाबके शासनाधीन रहा हो वा स्वदेशीय राजाके। वह ख़ास अपने ही तेजसे तेजस्वी हुआ था।

बात यह है कि उन दिनों समस्त बङ्गालको एकाकार होनेका संयोग मिला था, इसपर कई मनुष्योंने बिगड़कर चैतन्यपर मटकियोंके टुकड़े फेंककर मारे थे। किन्तु उनके बिगाड़े कुछ न बिगड़ा। मटकियोंके टुकड़े बह गये। देखते ही देखते ऐसा एकाकार हुआ कि न जातिभेद रहा न कुलभेद, न हिन्दू मुसलमानमें कोई भेद रहगया। उस समय तो आर्यकुलतिलकोंने जातिभेदविषयक तर्क न उठाया। मैं तो कहता हूँ तर्क करनेहीसे तर्क वितर्क बढ़ता है। जिस समय वृहत् भाव अग्रसर होता रहता है उस समय तर्क वितर्क आदि सभी झट अपने अपने बिलोंमें घुस जाते हैं। कारण मृत्युसे अधिक और क्या हो सकता है ? बृहत् भाव आकर कहता है कि सुभीते असुभीतेकी बातें जाने दो; सबको मेरे लिए प्राणविसर्जन करना होगा। लोग भी उसका आदेश सुन मरनेको तैयार होते हैं। मरनेके समय कहो कौन छोटी मोटी बातोंको ले तर्क करने बैठता है ?

चैतन्य जब घरसे बाहर निकले बङ्गदेशके गानोंके सुर तक बदल गये। उस समय बैठकमें एक ही कण्ठसे निकले हुए सुर-

नका, न जानें कहाँ, लोप हो गया । उस समय हज़ारों हृदयोंके तरङ्ग—हिल्लोल हज़ारों कण्ठोंसे निकल नये स्वरसे आकाशमें व्याप्त होने लगे । उस समय राग—रागनियाँ घर छोड़ बाहर निकल चलीं और एकको छोड़ हज़ारोंको वरण करने लगीं । विश्वको पागल कर-नेके लिए कीर्त्तन नामक एक नवीन कीर्त्तनकी सृष्टि हुई । जैसा इसका भाव था वैसा ही इसका कण्ठस्वर भी अश्रुजलकी धारासे बहा-कर सबको एक करदेनेके लिए वह क्रन्दनध्वनि भी था । यह सुन-सान कमरेमें बैठी विरहिणीका रोना कलपना न था किन्तु प्रेमसे आकुल हो नीलाकाशके नीचे खड़े सारे संसारकी क्रन्दनध्वनि था ।

इसीसे आशा होती है कि, फिर भी एक ऐसा दिन आयगा जब हम एक ही मत्ततासे पगले हो हठात् एक जाति बन सकेंगे; बैठकखानेके असबाव छोड़ सबलोग मिलकर एक साथ राजपथपर निकल आसकेंगे और बैठकके ध्रुवपद, ख्याल छोड़ राजपथपर कीर्त्तन गासकेंगे । ऐसा ख़याल होता है कि बङ्गदेशके प्राणोंमें एक बृहत् भावसे प्रवेश किया है, एक आशाका गान ध्वनित होरहा है; इसीसे समस्त देश कभी कभी हिल उठता है । जब यह पूरे तौरसे जाग उठेगा उस समय, आजकलके संवादपत्रोंके मैदानमें होनेवाले संग्राम, सैकड़ों, हज़ारों क्षुद्र क्षुद्र तर्कवितर्क और झगड़े बखेड़े—सबकी इतिश्री होजायगी । उस समय, आजकलका छोटे बड़ेके बीचका प्रभेद पानीमें खींची लकीरकी तरह न जाने किधर लुप्त होजायगा । उसी समय बङ्गाल एक बार और भी एकाकार होगा ।

प्रकृत स्वाधीनता भावकी स्वाधीनता है । बृहत् भावके दास होनेहीसे हम स्वाधीनताका सच्चा सुख और गौरव अनुभव कर सकते

हैं। उस समय कौन राजा और कौन मन्त्री ? उस समय केवल ऊँचे सिंहासनपर बैठकर कोई हमसे बड़ा न हो सकेगा। हृदयमें उसी गौरवका अनुभव कर सकनेसे हमारे हजारों वर्षका अपमान दूर हो जायगा; हम सब विषयोंमें स्वाधीन होनेके योग्य हो जायँगे।

हमारा साहित्य यदि जगत्का साहित्य हो जाय, हमारी बातें यदि जगत्के काम आने लगें और इस नाते भी यदि बङ्गाली जगत्के नागरिक कहलायँ—तौ भी हममें गौरव उत्पन्न हो सकेगा और हम अपनी हीनताको धूलकी तरह शरीरसे झाड़कर दूर कर सकेंगे।

केवल बन्दूक दाग सकनेहीसे हम बड़े आदमी हो सकते हैं—यह कोई बात नहीं। यदि हम संसारका कुछ भी काम कर सकें तो हम बड़े आदमी हो सकते हैं। मुझे तो आशा होती है कि, हममें ऐसे ऐसे महान् पुरुष जन्म लेंगे जो बङ्गालको पृथिवीके गणनीय देशोंकी सूचीमें जोड़ देंगे और इस प्रकार पृथिवीकी सीमा बढ़ा देंगे।

तुम तो बड़ी चिट्ठी शायद नहीं पढ़ते इससे भय होता है कि, कहीं तुम इस चिट्ठीको लौटाकर पीछे मुझसे इसका सारांश लिख भेजनेका अनुरोध न करो। किन्तु तुम पढ़ो या न पढ़ो मुझे तो इस पत्रके लिखनेसे बड़ा आनन्द हुआ है। यह चिट्ठी मानो मैंने अपनेहीको लिखी और इसे पढ़कर पूर्ण तृप्ति लाभ की है।

सेवक,

श्रीनवीनकिशोर शर्मा।

---

(७)

चिरञ्जीव बबुआ, आशीर्वाद ।

हमारे समयमें पोस्ट ऑफिसका बाहुल्य न था; जरूरी कामोंको छोड़ और किसी मतलबकी चिट्ठी हाथ न आती थी, इससे हमको मुख्तसर ही चिट्ठी पढ़नेका अभ्यास है । इसके अलावा बूढ़ा होनेके कारण मुझे एक एक अक्षर टटोलकर पढ़ना पड़ता है । सो बड़ी चिट्ठी पढ़नेसे मैं डरता हूँ यह बात झूठी नहीं है । किन्तु तुम्हारी चिट्ठी पढ़कर मेरा बड़ी चिट्ठी पढ़नेका सब कष्ट दूर हो गया । तुमने जो हृदयग्राही पत्र लिखा है, उसकी समालोचना करनेकी इच्छा नहीं होती है । पर बूढ़ोंका काम ही समालोचना करना है । यौवनके सहज नेत्रोंसे प्रकृतिके सौन्दर्य ही दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु चष्मा लगाकर देखनेसे केवल दोष और छिद्र ही आँखोंके सामने आते हैं ।

विदेशमें जा तुम्हारे मनमें जो बङ्गाली जातिकी उन्नतिकी आशा उदित हुई है, उसके कई कारण हैं । प्रधान यह है कि, यहाँ तुम्हें बदहज़मीकी बीमारी थी, वहाँ तुम्हारा अन्न पचने लगा है । इसीसे तुम समझ रहे हो कि, बङ्गाली मात्रके पेटका अन्न पचता है । ऐसी दशामें किसके हृदयमें आशाका सञ्चार नहीं हो सकता है ? किन्तु मैं तो अम्लशूलकी बीमारीसे पीडित बङ्गाली सन्तान हूँ; मेरे सामने तुम्हारी चिट्ठी आदिसे अन्त तक कहानीसी जान पड़ती है । यह कोई विचारकर नहीं देखता कि, लोगोंका सुख दुःख मंगल और अमंगल पेटके अन्नके जीर्ण होने और न होने पर कितना निर्भर है । जिस उन्नतिकी नीव पाक-यन्त्रके ऊपर स्थापित नहीं हुई है वह उन्नति कै दिन ठहर सकती है ? जठरानलका प्रखर भाव ही

मनुष्य जातिको अग्रसर करता है। जिस जातिकी भूख कम है, उसका जीना और मरना समान है; उसके द्वारा कोई कार्य नहीं हो सकता। जो जाति खाती है पर पचा नहीं सकती उसकी सद्गति असम्भव है।

बङ्गाली जातिको अम्लरोग है इस कारण बङ्गालियोंसे क्लर्की न छूट सकी। उन्हें न साहस होता है, न आशा होती है और न उनसे उद्यम ही बन पड़ता है। इसके लिए बेचारोंको दोष भी नहीं दिया जा सकता। हमारा शरीर असमर्थ है, बुद्धि अपरिपक्क है और उदराग्नि सबसे अधिक मन्द है। अतः समाजसंस्कारकी तरह हमारे पाक-यन्त्रका सँस्कार भी आवश्यक हो गया है।

आनन्द नहीं रहनेसे उन्नति कैसे हो सकती है ? आशा और उत्साहका सञ्चय कहाँसे हो सकता है ? अकृतकार्यको सफलताकी राहमें बार बार कौन अग्रसर कर सकता है ? हमारे इस आनन्दशून्य देशमें उठनेकी इच्छा नहीं होती, काम करनेकी इच्छा नहीं होती, एक बार गिर पड़नेसे मेरुदण्ड टूटसा जाता है। बिना प्राण दिये कोई काम नहीं होता—पर प्राण दें तो किस चीज़के बदले ? हमारा प्राण कौन निकालेगा ? आनन्द नहीं है—आनन्द नहीं है ! देशमें आनन्दका नाम नहीं ! जातिके हृदयमें आनन्दका लेश नहीं ! रहे भी कैसे ? हमारा यह स्वल्पायु, क्षुद्र, शीर्ण शरीर अम्लशूलसे पीडित है, मलेरियासे जीर्ण है, रोगकी अवधि नहीं है। विश्वव्यापिनी आनन्दसुधाकी अनन्त प्रस्रवणधाराको हम यथेष्ट परिमाणमें धारण कर नहीं सकते, इससे नींद टूटती नहीं, एक बार थकनेसे फिर वह थकावट दूर नहीं होती; एक बार कार्यभङ्ग होनेसे फिर संयोग नहीं बनता, एक बार विषाद उपस्थित होनेसे वह क्रमशः बढ़ता ही जाता है।

अतएव केवल मत्त होनेसे काम नहीं चलेगा। इस मत्तताको धारण कर रखने और उसे समस्त जातिकी नाड़ीमें सञ्चारित कर देनेकी क्षमताका सञ्चय करना आवश्यक है। एक स्थायी आनन्दका भाव समस्त जातिके हृदयमें बद्धमूल होना चाहिए। ऐसी एक प्रबल उत्तेजना शक्ति हमारी जातिके हृदयके केन्द्र–स्थानमें सर्वदा खड़ी रहनी चाहिए जिसके आनन्दोच्छ्वासके वेगसे हमारे जीवनका प्रवाह सहस्रमुखधारासे पृथिवीके कोने कोनेमें फैल सके। वह शक्ति कहाँ और उसके खड़े होनेकी जगह ही कहाँ? उस शक्तिके पैरोंके भारसे हमारा यह जीर्ण देह तो विदीर्ण हो धूलमें मिल जायगा।

भाई, मैंने तो विचारकर स्थिर कर रखा है कि, जिस देशका जलवायु अधिक मच्छड़ पैदा करता है उस देशमें किसी बड़ी जातिका जन्म नहीं होसकता। हमारी इस जलमय भूमि और जङ्गलकी कोमल मिट्टीमें कर्मानुष्ठान–तत्पर, प्रबल सभ्यताका स्रोत आकर झाड़ियोंसे घिरी, वनस्पतियोंमें छिपी, कोलाहलसे दूर, हमारी क्षुद्र झोपड़ियोंको अपने वेगसे गिरा रहा है। आकाङ्क्षा तो उत्पन्न कर रहा है पर उपाय नहीं है; कार्य बढ़ा रहा है पर शरीर नहीं है—असन्तोष उत्पन्न कर रहा है पर उद्यम नहीं है। हमारी जो पहली स्वस्ति शान्ति थी उसे बहा लेजा रहा है और उसके बदले जो सुखकी मरीचिका प्रस्तुत करता है, वह भी हमारे लिए दुष्प्राप्य है। काम करके कुछ सिद्ध तो होता नहीं, फलस्वरूप केवल रातदिनकी थकावट ही हाथ लगती है। मैं समझता हूँ कि पहले हम इससे अच्छे थे—अपने उस स्निग्ध वनकी छायामें, पत्तोंकी कानाफूसीमें, नदीके कलरवमें, सुखकी कुटीमें, स्नेहशील पितामाता, पतिप्राणा स्त्री, स्वजनोंपर प्रेम रखनेवाले

पुत्र पुत्रियों, और परिवारतुल्य पड़ोसियोंको साथ ले हमने जो क्षान्त घोंसला बनाया था, वही अच्छा था। युरोपीय विराट सभ्यताके पाषाण-तुल्य उपकरण हमें कहाँ मिलेंगे? कहाँ वह विपुल बल, वह श्रान्ति-मोचक जलवायु और वह धुरन्धर प्रशस्त ललाट! युरोपका अविश्राम कर्मानुष्ठान-विघ्नबाधाओंके साथ अविश्राम युद्ध, नये नये पथकी खोजमें अविश्राम दौड़धूप-अपरितोषकी आगमें निरन्तर आहुति-यह सब क्या इस कड़ी धूपसे तपे और जलसे सीले देशमें हमारे जीर्ण शीर्ण शरीरसे भी कभी हो सकता है? हम तो अपने श्यामल, शीतल तृण-निवासको छोड़ पतङ्गकी नाईं उग्र सभ्यताकी आगमें बस जल भुन जायँगे, और कुछ नहीं।

लड़कोंका काम है सुनना और बूढ़ोंका बोलना, इसी ख़यालसे मैं तुम्हारे पाससे तो छोटी चिट्ठीकी आशा करता हूँ पर स्वयं-लम्बी चिट्ठी लिखता हूँ। नये लोगोंकी बातें बहुत देर तक धैर्य धरकर नहीं सुन सकता, किन्तु अपनी बातें कहकर तृप्ति नहीं होती। अतएव, "स्वयं जैसे व्यवहारकी आशा करते हो, वैसा ही व्यवहार दूसरोंके साथ करो" इस उपदेशके अनुसार हमारे साथ व्यवहार मत करना—पहले ही कह देता हूँ।

आशीर्वादक,

श्री षष्ठीचरणदेव शर्मा।

---

(८)

श्रीचरणेषु प्रणतयः।

बस, तो फिर सब चूल्हेमें जाय। बङ्गदेश अपने आम और कटहलके बागोंमें और बाँसके कुञ्जोंमें बैठ केवल घर-काज करता रहे। स्कूल कॉलेज उठा दो; समाचारपत्र सब बन्द कर दो; पृथिवीके अनेकानेक विषयोंपर जो आलोचनाकी धूम मचीहुई है उसे बल-पूर्वक रोकदो, अङ्गरेज़ी पढ़ना बिल्कुल बन्द करो, विज्ञानका नाम मत लो, जिन महात्माओंने मानवजातिके लिए अपना जीवन उत्सर्ग किया है उनका इतिहास मत पढ़ो, पृथिवीके जिन सब महदनुष्ठा-नोंने शेषनागकी तरह हजारों सिरपर मानव जातिको विनाशकी विशृङ्खलासे मुक्तकर अटल उन्नतिके पथपर धारण कर रखा है उनके विषयमें सम्पूर्ण अज्ञ हो जाओ। अर्थात् जिन बातोंसे हृदय जागृत होता है, मनमें उद्यम और उत्साहका सञ्चार होता है, विश्वके साथ मिलकर काम करनेके लिए अनिवार्य आवेग उत्पन्न होता है उन सभीसे दूर रहो। पुस्तकोंमें बस एक नूतन पञ्जिका पढ़ो; किस दिन बैंगन खाना निषिद्ध है और किस दिन कुम्हड़ा खानेकी विधि है-रोज़ इसी बातकी समालोचना किया करो। दालान, हुक्का, नास और निन्दा—इन्हींकी सहायतासे कड़ीधूपकी गरमीमें दुपहरी खोओ। लड़कोंके दिमागमें चाणक्यकी नीति भरकर उन्हें लोक और परलोक कहींके भी न रक्खो।

दादाजी! तुम क्या सचमुच ही कहते हो कि एक सौ वर्ष पहले हम जिस दशामें थे अविकल उसी रूपसे हमें रहना उचित है; और कुछ भी उन्नतिका प्रयोजन नहीं है। ज्ञानलाभ करनेकी कोई

आवश्यकता नहीं; कारण प्रबल ज्ञान-लालसा उदित होकर कहीं हमारी दुर्बल देहको जीर्ण न कर दे । लोकहितप्रवर्त्तक उन्नत उपदेश सुननेका कुछ काम नहीं, नहीं तो पीछे मनुष्यजातिके हितके लिए कठोर व्रत पालन करनेमें कहीं हम सूर्यकी प्रखर किरणोंसे सूख न जायँ । बड़े लोगोंका जीवनवृत्तान्त भूलकर न सुनो, नहीं तो पीछे इस मच्छड़ोंके देशमें जन्म लेकर भी हमारे दुर्बल हृदयमें कहीं महद्व्यक्ति होनेकी दुराशा न जागृत हो। तुम्हारा उपदेश है निश्चिन्त होकर ठंढी छायामें जा बैठो, घरके द्वार बन्द कर लो, नारियलका पानी पीओ, नाकमें तेल दो, और स्त्री, पुत्र, परिवार तथा पड़ोसियोंके साथ बेखटके सुखनिद्राकी उपासना करो ।

किन्तु अब यह उपदेश देना व्यर्थ है-सावधान करना निष्फल है। कानमें वंशीकी ध्वनि पहुँच चुकी है । हम अब घरसे बाहर अवश्य निकलेंगे। जिस बन्धनसे हम मानवजातिके साथ बँधे हुए हैं, वह आज और भी कस गया है। विराट मानव आज हमें पुकार रहा है; उसकी सेवा न कर सकनेसे हमारा जीवन निष्फल है। हमारी पितृपूजा, मातृभक्ति, भ्रातृस्नेह, स्त्रीप्रेम—इन सबको वह चाहता है। यदि उसे वञ्चित करें तो, हमारा सारा प्रेम व्यर्थ होता है, हमारा हृदय अपरितृप्त रहजाता है। जिस प्रकार एक बालिका वयःक्रमकी वृद्धिके साथ साथ क्रमशः जितना ही स्वामिप्रेमका मर्म जानती जाती है, उतना ही उसके हृदयकी सारी प्रवृत्तियाँ स्वामीकी ओर झुकती जाती हैं, और फिर शरीरका कष्ट, जीवनका भय, अथवा कोई उपदेश उसे स्वामिसेवासे विमुख नहीं कर सकता है उसी तरह हम मानवप्रेमका मर्म जानते जारहे हैं, अब हम मानवसेवाके लिए जीवन अर्पण करेंगे

किसी दादाजीका कोई भी उपदेश हमको उससे निवृत्त नहीं कर सकता है। यदि मरण हो तो हो, कोई उपाय नहीं है। बचकर ही क्या सुख लूट रहे हैं?

कहते हो आनन्द नहीं है। यही तो आनन्द है। यह नवीन ज्ञान, यह नवीन प्रेम, यह नवीन जीवन—ये ही तो आनन्द हैं। क्या आनन्दका लक्षण कुछ भी नहीं व्यक्त हो रहा है? क्या जागृतिका भाव कुछ भी प्रकट नहीं हो रहा है? क्या मनमें यह भाव उदय नहीं होता कि बङ्गसमाजरूपी गङ्गामें ज्वार आरहा है? क्या इसी कारण समाजका सर्वांग आवेगसे चञ्चल नहीं हो उठा है? हमारा यह देश निरानन्द देश है; यहाँ रोग है, शोक है, ताप है; रोग शोक और निरानन्दसे जीर्ण हो हम मृत्युकी बाट जोह रहे हैं, इसीलिए हमें आनन्द चाहिए, जीवन चाहिए; इसीसे कहता हूँ कि, नवीन स्रोत आकर हमारे मरणोन्मुख हृदयका रोग दूर करे—और यदि हमें मरना ही हो तो, आनन्दके साथ इस नवीन स्रोतहीमें बह मरें।

और, मरेंगे क्यों? तुम्हें ऐसा कौनसा हिसाब मालूम है कि, तुमने जोड़ रखा है कि,—हम जरूर मर ही जायँगे। तुम्हारे जैसे बूढ़े आदमीकी गणनाके अनुसार मनुष्यसमाज नहीं चलती। क्या तुम जानते हो मनुष्य सहसा कहाँसे बल पाता है, कहाँसे वह दैवीशक्ति लाभ करता है? मनुष्य-समाज साधारणतः हिसाबसे ही चलती है पर कभी कभी भ्रम भी हो जाता है, उस समय और हिसाब नहीं मिलता। साधारणतः दो और दो चार ही होते हैं किन्तु हठात् एक दिन ऐसा भी आजाता है कि दो और दो पाँच होजाते हैं; उस समय बूढ़े लोग अपनी आँखोंसे चश्मा उतार हक्केबक्के होकर इधर उधर

ताकने लगते हैं। सहसा जब एक नूतन भावका प्रवाह आकर जातिके हृदयमें भँवर उत्पन्न करता है, तभी भ्रम होनेका अवसर आपड़ता है-ऐसे समयमें क्यासे क्या होजाता है, यह निश्चय करनेकी कोई राह नहीं सूझती, अतएव आमके बगीचेमें अपने उस छोटे घोंसलेमें हम अब फिर नहीं लौटेंगे।

चाहे मरें या बचें,—बस यही निश्चय अच्छा है। मरनेसे डरे तो, फिर बचे रहनेकी भी क्या आवश्यकता है। **क्रौमवेल** जिस समय इङ्गलैण्डमें गुलामीकी रस्सी काट रहे थे, उस समय उनका मरना भी सम्भव था और बचना भी। **वाशिंगटनने** जब अमेरिकामें स्वाधीनताकी ध्वजा उड़ाई थी उस समय उनका मरना भी सम्भव था और बचना भी। इस प्रकार पृथिवीमें सब जगह कोई मरता है और कोई बचता है-इसमें आपत्ति क्या है? निरुद्यम ही प्रकृत मृत्यु है। हम बचेंगे या मरेंगे, पर इस चिन्ताके डरसे काम काज छोड़कर दादाजीकी गोदमें बैठे कहानियाँ सुनते दिन नहीं काट सकते। तुम्हें क्या इस बातका डर होता है कि, तुम्हारे वंशमें कोई दिया दिखानेवाला नहीं रहेगा? मैं पूछता हूँ अभी कौन दिया दिखाता है। सब तो अन्धेरा ही अन्धेरा है।

दादाजी! मैं तुमसे विदा लेता हूँ। हमारे तुम्हारे बीच अब और चिट्ठीपत्री नहीं चल सकती। हमारी उम्र काम करनेकी है। संसारमें काम करनेमें बाधाएँ बहुत हैं—पद पदपर विघ्न-विपत्तियाँ हैं, इसपर भी बूढ़े लोगोंसे यदि नैराश्यका सञ्चय करना हो तो जवानी समाप्त होनेके पहले ही बूढ़ा होजाना पड़ेगा। तब तो पचास वर्षके पहले ही जङ्गलकी राह लेनी पड़ेगी। आगे मेरी बुलाहट हो

रही है, मैं पीछे तुम्हारी ओर फिरकर न देखूँगा । तुम कहते हो– ' रास्तेमें गडहा है; नाला है, उनमें गिरकर तुम अपने हाथ पैर तोड़ोगे और प्राण गँवाओगे, इसलिए घरके दरवाज़ेपर चटाई बिछाकर बैठा रहना ही अच्छा है ।' पर तुम्हारी बातपर विश्वास नहीं होता। यह सच है कि, मैं दुर्बल हूँ; किन्तु तुम्हारे उपदेशोंसे भी तो मुझे कुछ बल नहीं मिलता । मैं अपने व्रतपालनके लिए हीन बुद्धि हूँ, किन्तु उपदेशोंसे भी तो मुझे बुद्धि नहीं मिलती । अतएव मुझे जितना बल है और जितनी बुद्धि है, उसीके भरोसे मैं अब चलता हूँ, यदि मरना ही है तो जीवनरूपी समुद्रमें ही डूब कर मरूँगा ।

सेवक,

श्रीनवीनकिशोर शर्मा ।

---

(९)

चिरञ्जीव बबुआ ! आशीर्वाद ।

भाई, तुम्हारी चिट्ठी कुछ गर्म माळूम होती है । मैं उससे दुःखित नहीं हूँ । तुम्हारे रक्तमें तेजी है, कभी कभी तुम गर्म हो जाते हो, यह देख हमें बड़ा आनन्द आता है । यदि तुम्हारा रक्त हमारे जैसा ठंढा होता तो, संसारका काम कैसे चलता ? यदि ऐसा होता तो, पृथिवीके सब स्थान मेरुप्रदेश बन जाते ।

बहुतसे बूढ़े ऐसे भी हैं जो पृथिवीसे यौवनका लोप ही कर देना चाहते हैं; वे यही चाहते हैं कि, उनकी शीतलता समान भावसे सब जगह व्याप्त होजाय । जहाँ कहीं वे थोड़ीसी भी गरमी पाते हैं, वहीं वे अत्यन्त ठँढी फूँकसे सबको बर्फकी तरह जमा देना चाहते हैं । वे

पृथिवीपरसे कच्चे बाल एकदम उखाड़कर उनकी जगह पके बाल जमा देना चाहते हैं। वे बिल्कुल भूल जाते हैं कि, एक समयमें वे भी युवा थे; इसीसे यौवन क्या है उनकी समझमें नहीं आता। जवानके गीत सुन वे कानोंमें उङ्गलियाँ डाल लेते हैं और जवानीके काम देखकर समझते हैं कि, कलियुग आगया है। श्यामवर्णके किशलयोंकी असम्पूर्णता देख धूलमें पड़े पुराने पत्ते जिस प्रकार सूखी पकी हँसी हँसते रहते हैं, उसी प्रकार बहुतसे बूढ़े कच्ची जवानीकी रसीली हरियाली देख हँसा करते हैं। इसी कारण लड़कों और बूढ़ोंमें इतना दृढ़ अन्तर पड़ गया है।

भाई, मेरी क्या यह साध है कि, उपदेशके धुएँसे मैं तुम्हारे कच्चे दिमागको एक ही दिनमें पका डालूँ? यदि मैं काम कर सकता तो, फिर समालोचना करने क्यों बैठता? तुम जवान हो, कहो तो तुम्हें कितना सुख है। हमें तो उद्यमका सुख नहीं, कार्य करनेका सुख नहीं, एक केवल बकने झकनेका सुख है, वह भी सामनेके दांत टूट जानेके कारण अच्छी तरह नहीं बनता है; ऐसी दशामें भी यदि तुम नाराज़ हो जाओ, तो कैसे काम चल सकता है?

मेरा सन्देह और मेरी विज्ञता मेरे ही साथ रहे, तुम्हें इससे कुछ मतलब नहीं। तुम निःसन्देह कार्य करो और निर्भय हो आगे बढ़ो। नये नये ज्ञानकी खोज करो, सत्यके लिए लड़ाइयाँ लड़ो, संसारके कल्याणके लिए जीवन उत्सर्गकर दीर्घ जीवन लाभ करो। जिस स्रोतमें पड़े हो, उसी स्रोतको अवलम्बनकर उन्नति-तीर्थकी ओर बढ़े चलो; यदि डूब जाओगे तो लज्जा नहीं और पार हो जानेसे तुम्हारा जन्म सार्थक हो जायगा; तुम्हारी दुःखिनी जन्मभूमि धन्य होगी।

मैं अपना समस्त जीवन बिताकर अन्तमें मरनेके समय जो दो चार बातें तुमसे कह जाता हूँ उनसे तुम्हारा कुछ भी उपकार नहीं होगा, यह मैं नहीं मान सकता। अवश्य ही मेरी सब बातें वेदवाक्यवत् नहीं हैं और न सभी बातें आजकलके मतलबकी हैं; किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि, मेरी बातोंमें कुछ न कुछ सत्य अवश्य है। मेरा यह दीर्घजीवन बिल्कुल ही व्यर्थ या मिथ्या नहीं है। मेरा दीर्घजीवन इस सन्देहमय संसारमें सच्चा रास्ता बतानेमें कुछ भी सहायता न करेगा, ऐसा मैं नहीं समझता। इसलिए यद्यपि मैं किसी दृढ़ अनुशासनका प्रचार करना नहीं चाहता, यद्यपि मैं यह नहीं कहना चाहता कि, मेरी बातोंको आदिसे अन्ततक पालन न करनेसे तुम बरबाद हो जाओगे, तो भी मैं इतना ज़रूर कहूँगा कि, मेरी बातोंको ध्यान देकर सुनो, एकदम कानोंमें उँगलियाँ मत देलो; उसके बाद विचार करो, विवेचना करो, और जो अच्छी मालूम हों उन्हें ग्रहण करो। आगेकी ओर बढ़ो परन्तु पीछेके साथ झगड़ा मत करो। अतीत, वर्त्तमान और भविष्यत्को प्रेमकी एक ही डोरीमें बाँध रखो।

भाई, मेरा तो जानेका समय आगया है। " यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनामाविष्कृतारुणपुरःसर एकतोऽर्कः " हम वे ही अस्तगामी चन्द्र हैं, रात्रिमें बङ्गभूमिकी निद्रितावस्थामें विराज रहे थे। उस समय बड़ी गम्भीर शान्ति और मनोहर माधुरीकी चाँदनी छिटक रही थी, यह स्वीकार करना ही पड़ेगा। किन्तु इसीसे आज कर्म-कोलाहलको जगाकर यह जो अरुणोदय हो रहा है, इसका सादर स्वागत क्यों नहीं करेंगे? क्यों ऐसा कहेंगे कि तीक्ष्ण किरण दिवसकी आवश्यकता नहीं है, रातके बाद फिर रात ही आवे? आओ, अरुण,

आओ; तुम आकाशमण्डलपर अपना अधिकार जमाओ; मैं चुपकेसे तुम्हारी राह छोड़े देता हूँ। मैं तुम्हारी ओर देखकर क्षीण हास्यके साथ तुम्हें आशीर्वाद देता हुआ विदा होता हूँ। मेरी निद्रा, मेरी शान्त नीरवता, मेरी मनोहर हिमसिक्त रजनी, सब मेरे साथ ही साथ विलीन होजायँ; अब तुम्हारी ही उज्ज्वल महिमा नवजीवनका सञ्चार करती हुई जल, स्थल और चराचरमें निरन्तर व्याप्त होती रहे।

आशीर्वादक,
श्रीषष्ठीचरण शर्मा।

इति।

जगत्प्रसिद्ध महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरके हमारे-द्वारा प्रकाशित अन्यान्य ग्रंथ।

१ प्राचीन साहित्य—जगत्प्रसिद्ध कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरके प्राचीन साहित्यसम्बन्धी निबन्धोंका अनुवाद। इसमें १ रामायण, २ धम्मपद, ३ कुमारसंभव और शकुन्तला, ४ शकुन्तला, ५ मेघदूत, ६ कादम्बरीचित्र, ७ काव्यकी उपेक्षिता ये सात निबन्ध हैं और उनमें उक्त प्राचीन ग्रन्थोंकी अपूर्व और विलक्षण आलोचना की गई है। संस्कृत काव्यके प्रेमियों तथा संस्कृत विद्यार्थियोंके यह एक बडे कामकी चीज है। संस्कृत न जाननेवाले काव्यप्रेमी भी इन्हे पढ़कर लाभ उठ सकते हैं। मू० ॥-)

२ राजा और प्रजा—राजनीतिसम्बन्धी अपूर्व लेख। सब मिलाकर ११ लेख हैं–१ अँगरेज और भारतवासी, २ राजनीतिके दो रुख, ३ अपमानका प्रतिकार, ४ सुविचारका अधिकार, ५ कण्ठरोध, ६ अत्युक्ति, ७ इम्पीरियलिज्म, ८ राजभक्ति, ९ बहुराजकता, १० पथ और पाथेय और ११ समस्या। हमारा विश्वास है कि हिन्दीके राजनीतिक साहित्यमें यह एक अपूर्व चीज समझी जायगी। ये निबन्ध अध्ययन और मनन करनेके योग्य हैं–केवल पढ़ डालनेके नहीं। इनका अनुवाद वहुत सावधानीसे हुआ है। दूसरी वार छपा है। मूल्य० १) रु. सजिल्दका १॥) रु.।

३ शिक्षा—इसमें शिक्षा विषयक,– १ शिक्षा-समस्या, २ आवरण, ३ शिक्षाका हेरफेर, ४ शिक्षा-संस्कार और ४ छात्रोंसे संभाषण ये,–पाँच निबन्ध हैं। निबन्ध बड़े ही महत्त्वके हैं। इन्हें पढ़कर पाठक जान सकेंगे कि हमारी वर्तमान शिक्षापद्धति कैसी है, स्वाभाविक शिक्षापद्धति कैसी होती है, कैसी शिक्षासे बुद्धिविकाश और चरित्रविकाश होता है, अँगरेजी भाषाकी शिक्षासे हमारे बच्चोंकी क्या दुर्दशा होती है, और अब हमें कैसी शिक्षाका प्रचार करना चाहिए। शिक्षातत्त्वको समझनेकी इच्छा रखनेवाले पाठशालाओंके अधिकारियों, अध्यापकों और छात्रोंके माता-पिताओंको यह गंभीर निबन्धावली अवश्य पढ़ना और मनन करना चाहिए। मू० ॥)

४ स्वदेश—१ नया और पुराना, २ नया वर्ष, ३ भारतका इतिहास, ५ पूर्वीय और पाश्चात्य सभ्यता, ६ ब्राम्हण, ७ समाज-भेद, और ८ धर्मबोधका दृष्टान्त, ये आठ निबन्ध इस पुस्तकमें हैं। अपने देशका असली स्वरूप समझनेवालोंको, उसके अन्तः-करणतक प्रवेश करनेकी इच्छा रखनेवालोंको तथा पूर्व और पश्चिमका अन्तर हृदयंगम करनेके लिए उत्कण्ठित विद्वानोंको ये निबन्ध अवश्य पढ़ने चाहिए। हिन्दी संसारने इस पुस्तकका अच्छा आदर किया है और इसका प्रमाण यह है कि यह तीन बार छप चुकी है। मू० ॥≈) जिल्ददारका १≈)

५ आँखकी किरकिरी—मूल लेखकके चित्र, चरित्र और ग्रन्था-लोचनसहित। हिन्दीमें तो क्या अँगरेजी फ्रेंच जैसी प्रौढ़ भाषाओंमें भी इसकी जोड़का कोई उपन्यास नहीं। मनुष्यके आन्तरिक भावचित्रोंका, उनके उत्थान पतन और घात-प्रतिघातोंका इसमें बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। यद्यपि इसका कथानक-बहुत ही सीधा सादा है, पात्र भी इसमें केवल चार पाँच ही हैं, तो भी ग्रन्थकारमें जो मनुष्य-स्वभावका गंभीर ज्ञान है और उस स्वभावके ज्योंके त्यों चित्र खड़े कर देनेका जो विलक्षण कौशल है, उससे यह उपन्यास बहुत ही मनोवेधक बन गया है। तीसरी बारछपा है। मू० १॥≈) सजिल्दका २)

६ समाज—पाठकोंके हाथमें है।

७ '**मुक्तधारा**'—नामक नाटकका अनुवाद विस्तृत समालोचना और विवरणके सहित—शीघ्र ही प्रकाशित होगा। इस ग्रन्थकी संसारमें बड़ी प्रतिष्ठा हुई है। इसके अँगरेजी, जर्मन और गुजराती अनुवाद प्रकाशित हो चुके है।

मैनेजर, **हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,**
हीराबाग, पो. गिरगाँव, बम्बई।